हमारा साहित्य
1988



जे० एंड के०

अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेंजिज जम्मू

हमारा साहित्य

1988

कश्मीर के अजूबे अंक

संपादक
डॉ. उषा व्यास

जे. एंड के.
अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज
जम्मू

हमारा साहित्य—1988
कश्मीर के अजूबे अंक
जे. एंड के. अकादमी ऑफ आर्ट
कल्चर एंड लैंग्वेजिज़ द्वारा
प्रकाशित

मूल्य : 26 रुपये 50 पैसे

प्रथम संस्करण : जनवरी 1991
रोहिणी प्रिंटर्ज, कोट किशन चन्द
जालन्धर
द्वारा मुद्रित

HAMARA SAHITYA—1988
Edited by Dr. Usha Vyas.

आमुख—

सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न सौंदर्य-विराट कश्मीर कला और शिल्प के चित्रफलक पर भी विशेष महत्व रखता है। कलात्मक विशिष्टताओं को ग्रहण करने और उन्हें नये-नये आयाम देने की दिशा में यहां के प्रवीण शिल्पी सदा प्रयत्नशील रहे हैं। शताब्दियों से लेकर अब तक की इस श्रम-यात्रा में कश्मीर कला और शिल्प के अनेक मोड़ों से गुज़रा है। वर्तमान नित नये परिवर्तनों में पोषित कश्मीर में, हस्तशिल्प तथा कारीगरी जैसे कलात्मक एवं श्रम साध्य-व्यवसाय के साथ-साथ कला के रचनात्मक अंकन की दिशा में बेहतर प्रयत्न सामने आये हैं। बहुत पहले 'कश्मीर के अजूबे' शीराज़ा 'कश्मीरी' का एक विशेषांक प्रकाशित हुआ था जिसे पाठकों ने भरपूर सराहा था। तदनन्तर यह सामग्री पंजाबी तथा उर्दू में भी प्रकाशित हुई।

कश्मीर के ये आश्चर्य अपने हिन्दी पाठकों तक पहुंचाने का लोभ-संवरण न कर पाने के कारण 1988 का 'हमारा साहित्य' हमारी इसी आकांक्षा का रूपायन है।

आशा है इसकी रोचकता तथा उपयोगिता स्वयं इसकी सार्थकता को रेखांकन देगी।

—संपादक

इस अंक में—

कश्मीर का स्वर्गिक फल : अंबरी सेब

□ मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

कश्मीर का अतीत कुछ अति सौंदर्यशील वस्तुओं से सुसज्जित था। संभव है भविष्य उससे भी अधिक सुन्दर हो। परन्तु मानव के प्रयास से पैदा हुई कोई सुन्दर वस्तु जब समाप्त होने लगती है तो उदासी तथा अभाव की भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कश्मीर में जो चीज़ें लुप्त होती जा रही हैं उनमें प्राकृतिक दृश्य, सुरभि तथा प्राण शक्ति, सुरुचि और स्वाद, रस तथा आनन्द, राग और रंग, वाणी तथा वाक्-शक्ति, ध्वनि और प्रतिध्वनि की कितनी ही विचित्र, अवर्णनीय और अमूल्य निधियां सम्मिलित हैं। इनका पोषण बड़े श्रम एवं लग्न से किया गया था। और इनसे ही कश्मीर का वह सामूहिक प्रभाव, वह कल्पना आबद्ध थी जो इसे पृथ्वी के स्वर्ग की संज्ञा प्रदान करती थी। इनके समाप्त प्राय: होने से केवल कश्मीर की ही नहीं अपितु समस्त प्राणी मात्र की भरपूर क्षति हुई है। अंबरी सेब भी इस लुटती हुई, प्राकृतिक सम्पत्ति का एक दुखद पक्ष प्रस्तुत करता है।

मेरे अध्ययन के अनुसार अंबरी के अनूठे स्वाद का रहस्य कश्मीर की मिट्टी की विशेषता में निहित है। यह सेब धीरे-धीरे अंधेरों में लुप्त होता जा रहा है, और इसके साथ ही रंग-रूप, स्वाद-आनन्द, रस और सौन्दर्य का मानों एक कारवां विदा हो रहा है।

सेब प्राचीनतम फल है। सामी नस्ल के धार्मिक ग्रंथों में इसके बारे में बहुत सी परम्पराएं और जनश्रुतियां मिलती हैं। उनमें से एक परम्परा के अनुसार हज़रत आदम इसी वर्जित फल के कारण स्वर्ग से निकाले गए। ज्यों ही उन्होंने इसे चखा, स्वर्ग की पवित्र धरती उनके लिए अप्राप्य हो गई। जब उनकी पसली से निकली हुई हव्वा प्रकट हुई तो इसी फल के दो अर्ध भाग उसके वक्षस्थल बन गये। जिसे देखकर आदम के बेटे आज तक विनाश का ताडव करने लगते हैं और हव्वा की बेटियां इस वर्जित फल को छिपाती चली आ

रही हैं। इसी प्रकार इन ग्रंथों में, सेब की टहनी और सांप की उस दंतकथा की चर्चा भी की गई है जो वर्षों तक हज़ारों लेखकों तथा कवियों का मन भाता विषय बनी रही।

सेब की शक्ल इन्सानी दिल से मिलती जुलती है, इसलिये प्यार मुहब्बत करने वाले इसे प्रतीक रूप में अपनाते और अपने दिल का हाल व्यक्त करने का साधन मानते चले आए हैं। युवक और युवतियां अपने प्रेमपत्रों में सेब की आकृति अंकित करना कभी नहीं भूलते।

वनस्पति संसार में सेब को 'MALUS PURMILA' के नाम से पुकारा जाता है और यह लगभग दुनिया के उन सभी इलाकों में होता है जहां न अधिक गर्मी पड़ती है न ज़्यादा सर्दी। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार यह दक्षिणी तथा पूर्वी एशिया की उपज है और वहां के रहने वालों का मन पसन्द भोजन रहा है। 'केटव' ने तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में इसकी तीन किस्मों की चर्चा की थी। कहते हैं कि सेब यूरोप से ही भारत, चीन और जापान में आया। अनुकूल जलवायु वाले इन इलाकों में सेब की हज़ारों किस्में पाई जाती हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार केवल अमरीका में ही सात हज़ार किस्म के सेब पाए जाते हैं। यूरोप के बहुत से देशों और रोम सागर के किनारे बसे मुल्कों में सेब बड़ी अधिक मात्रा में होते हैं। सोवियत यूनियन के लगभग सभी एशियाई प्रजातंत्रों में ढेरों सेब पैदा होते हैं। बल्कि आरमीनिया की राजधानी का नाम "अलमाता" तुर्की भाषा में अर्थ 'सेबों का बाप' है। भारत, ईरान और अफ़गानिस्तान के अधिकतर प्रदेशों में सेब पैदा होता है। फ़ारसी शायरी में महबूब के चेहरे पर मुस्कराते समय जो सुन्दर गड्ढे पड़ते हैं वह सेब के दोनों सिरों के गड्ढों जैसे होते हैं, इसी लिए प्रेमिका की सूरत को 'सेब ज़ंख' की उपमा देने की परम्परा फ़ारसी कवियों में प्रायः दृष्टिगोचर होती है।

कश्मीर में सेब कब आया इस बारे में दो मत हो सकते हैं परन्तु इस मेवे के लिए कश्मीरी भाषा में 'ज़ोंठ' शब्द की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि यह चाहे इस धरती की उपज हो न हो मगर इसका कश्मीर से संबंध बहुत ही पुराना है। यहां के जंगलों में सेब की कुछ जंगली किस्में भी इस कथन की पुष्टि करती हैं।

कल्हण पंडित की 'राज तरंगिणी' में भी सेब की चर्चा नज़र आती है चाहे उसमें 'अंबरी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। फिर भी उसके अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाराजाओं के दरबार में पहुंचने वाला फल हो न हो अंबरी सेब ही होगा। इस ग्रन्थ की छठी तरंग के श्लोक 356 से लेकर 360 तक रानी 'दीदा' की चर्चा की गई है। जब वह बूढ़ी होने लगी तो उसे उत्तराधिकारी की चिन्ता सताने लगी। दीदा ने अपने भाई

उदयराज के बेटों को बुलाया और उनकी विवेकशीलता की परीक्षा लेने के लिए एक स्थान पर सेबों का ढेर लगवा दिया और उनसे कहा कि जो लड़का सब से अधिक सेब लाएगा वह युवराज बन जाएगा। 'संग्राम' अलग बैठा तमाशा देखता रहा जबकि शेष लड़कों के बीच छीना-झपटी होने लगी। लड़ने-भिड़ने वाले लहूलुहान लड़के थोड़े-थोड़े सेब लिए आन पहुंचे तो दीदा ने देखा कि संग्राम क्षत-विक्षत हुये बिना सबसे अधिक सेब लाया है। कारण पूछने पर संग्राम ने उत्तर दिया "मैंने उन्हें आपस में लड़वा दिया और इस तरह अधिक सेब बटोरने पर भी मुझे खरोंच तक नहीं आई।" दीदा ने उसी समय संग्राम को उत्तराधिकारी बनाने की घोषणा करवा दी। मिर्ज़ा हैदर दोग़त्वात (1542-1552) ने संभवत: अंबरी सेब को चखकर ही अपनी पुस्तक 'तारीखे रशीदी' में लिखा था—"कश्मीर का सेब बहुत उम्दा होता है।" "ललद्यद" की एक कविता में भी सेब का ज़िक्र "ज़ोंठ" के नाम से प्राप्य है। वह पृथक्-पृथक् मौसमों में होने वाले फलों के एक ही समय पक जाने को कलयुग की निशानी समझती है और कहती है—"उस युग में नाशपाती और सेब खुबानियों के साथ पक जाया करेंगे और मां बेटियां बाहों में बांहें डाले घर से निकला करेंगी और दिन भर ग़ैरों के साथ गुलछर्रे उड़ाया करेंगी।"

अंबरी केवल कश्मीर के सेबों का नहीं बल्कि सारे संसार के सेबों का सरताज है। इसका नाम अंबरी क्यों पड़ा? मेरे विचार में दिल और दिमाग पर छा जाने वाली इसकी तीव्र सुगन्ध ने कश्मीरियों को इसे 'अंबर' अर्थात् मुश्ककपूर का नाम देने को प्रेरित किया। अंबर की सुगन्ध समुद्र की एक मछली से प्राप्त होती है और 'अंबर मुश्क' की चर्चा संस्कृत और फ़ारसी, दोनों भाषाओं में मिलती है। सर वाल्टर लारेंस ने भी इसका पहला नाम 'अंबरू' (ANBRU) ही दिया है।

जंगली पेड़ पर अंबरी की टहनी की कलम लगाकर यह वृक्ष तैयार होता है और बारह से पन्द्रह साल तक फल देने लगता है। इसके बाद यह बहुत बड़े घेरे वाला पेड़ बन जाता है। अपने यौवन में यह एक मौसम में लगभग हज़ार सेब पैदा करता है और इसकी आयु एक सौ साल तक हो सकती है। यह पेड़ बुढ़ापे में भी जबकि इसका तना अनगिनत टहनियों के बोझ से निढाल प्रतीत होता है, फल देता रहता है। सूखने पर इसकी लकड़ी की काफी मांग रहती है जिसमें तेज़ आग और देर तक धधकते अंगारों की विशेषता होती है।

अंबरी सेब के पेड़ पर बहार के अंत अर्थात् अप्रैल महीने के आखिर में शगूफ़े निकल आते हैं। यह शगूफ़े अचानक सैलाब की भांति आते हैं और समस्त पेड़ को याकूत की रुपहली चका-चौंध से विभूषित कर डालते हैं। अंबरी का शगूफ़ा शेष शगूफ़ों से अधिक गुलाबी होता है और देखने वाला देखता ही रह

जाता है। सर वाल्टर के अनुसार—"मेरे विचार में कश्मीर में प्रकृति का सबसे बड़ा करिश्मा बादाम के शगूफ़ों और सोसन के फूलों का रंग हैं परन्तु जब सूर्य की किरणों का सेब के शगूफ़ों से मधुर मिलन होता है तो वह उनसे भी अधिक रमणीय जान पड़ते हैं।"

यह शगूफ़ा बहुत ही सुकोमल और कमनीय नरम मिज़ाज भावुक और संवेदनशील होता है और इसके लिए धूप की धीमी आंच लाभदायक सिद्ध होती है। अधिक वर्षा तथा शीत इसे नष्ट कर डालता है। शगूफ़े दो-तीन सप्ताह में धीरे-धीरे मंद पड़ने लगते हैं और छोटी-छोटी टहनियों के निचले हिस्सों में बेशुमार छोटे सब्ज़ सेब उग आते हैं मानों सारे पत्तों ने फल का रूप धारण कर लिया हो। इसी समय व्यापारी बाग़ में आकर पेड़ ख़रीदने की पहल करना चाहते हैं। इस हालत में सेब के पेड़ का निरीक्षण करने पर वह पूरा-पूरा अनुमान लगा लेते हैं कि उस पर से फल की कितनी पेटियां प्राप्त होंगी और इसी हिसाब से वह पेड़ का मूल्य लगाते हैं।

दो महीनों में यह फल काफी बढ़ जाता है और अगस्त में इस पर रंग की लकीरें प्रकट होने लगती हैं। इन दिनों इसे हल्की गर्मी के अतिरिक्त वर्षा की हल्की फुहार की आवश्यकता रहती है। रंग आने के महीने यानी सितम्बर और अक्तूबर खुश्क होने चाहिएं। सितम्बर के आखिर या अक्तूबर के शुरू में वर्षा के कुछ छींटे पड़ने के बाद ही रंग का तूफ़ानी तेज़ अपना निखार दिखाता है जैसे रूपहली उषा में नहाने से दुल्हन का श्रृंगार दमकने लगता है। जब अंबरी सेब पर पूरा रंग आ जाता है तब यूं लगता है मानो सब्ज़ पत्तों के बीच याकूत के दाने जगमगा रहे हों। चांदनी रात में लगता है पेड़ पर सैंकड़ों चराग़ जल रहे हों। प्रकृति की देन यह अनूठा गुलाबी रंग अपनी मिसाल आप है और मनुष्य के लिए इसकी नकल करना दुश्कर है। इसमें न तो अप्रिय गहराई होती है और न ही अनावश्यक हल्कापन तभी तो कश्मीरी साहित्य में प्रेमिका के गुलाबी गालों को सेब की लालिमा से उपमा दी जाती है।

अक्तूबर में जब अंबरी सेब यौवन पर पहुंचता है तो इस की सुन्दरता को निहारना एक अनोखा अनुभव होता है मानों भारी-भारी फलों से झुकी टहनियां गुलाबी रंग की आकाश गंगा हो। सारा वातावरण अंबरी की सुगन्ध से ओतप्रोत हो जाता है। इसकी महक से देखने वाले के अन्तःकरण के झरोखे खुल जाते हैं और यह अनोखा फल जादू की तरह सर चढ़कर बोलने लगता है।

फल के लिए यह बड़ा नाज़ुक दौर होता है। इन दिनों फल का डठल पककर टहनी से अलग होने के लिए पूरी तरह तैयार हो चुका होता है और फिर एक टहनी पर चार-चार फल लटक रहे होते हैं। इसलिए यदि तेज हवा चलने लगे तो सेब झड़ने शुरू हो जाते हैं। इन दिनों आंधी आ जाए तो अस्सी प्रतिशत फसल नष्ट हो सकती है। सेब जब ऊंचाई से गिरता है तो घायल हो

जाता है और यही घाव उसके सड़ने का कारण बनता है। यदि इन विपत्तियों से सुरक्षित रहे तो इन्हीं दिनों सेब को प्राप्त करने का क्रम आरम्भ होता है। पेड़ के ऊपर चढ़ कर मज़दूर हाथों से एक-एक दाना उतार कर तिनकियों-तीलियों से बनी टोकरी में डालता जाता है। टोकरी के अन्दर नरम टाट लगा होता है जो फल को खरोंच लगने से बचाता है। फिर इस टोकरी को रस्सी से नीचे लटकाया जाता है जिसे धरती पर खड़ा दूसरा मज़दूर चादर में उंडेल लेता है और फिर ढेर पर डालता जाता है। पेड़ के बाहरी हिस्सों की पतली-पतली शाखायें मनुष्य का बोझ उठाने लायक नहीं होती इसलिए उनसे लटकते सेबों को उतारने के लिए सीढ़ी का प्रयोग किया जाता है। फिर आरम्भ होता है ढेर से तरह-तरह के सेब चुनने का काम और इस प्रकार चार किस्म के सेबों की अलग-अलग ढेरियां लगाई जाती हैं।

1. खूब मोटा और रंग से परिपूर्ण सेब सब से बढ़िया किस्म का माना जाता है। ऐसा एक-एक सेब आधे किलो वज़न का भी हो सकता है।

2. वह सेब जो अधिक मोटा न हो परन्तु जिस पर बहुत शोख़ और एक सा रंग चढ़ा हो। इस किस्म का सेब मोटे सेब से रंगत में बाज़ी ले जाता है। यह अधिकतर अंडे के आकार का होता है।

3. वह सेब जो मोटा तो हो परन्तु उस पर रंग की केवल गिनी चुनी लकीरें हों। इस किस्म के फल की अधिक मांग नहीं होती।

4. वह सेब जो बहुत छोटा हो और जिसका रंग भी लगभग मंद हो। इस किस्म का फल मुरब्बा बनाने के लिए काम आता है।

पहली दो प्रकार के सेबों को कायरो की लकड़ी से बनी पेटियों में भर लिया जाता है। पहली किस्म की चार तहें लगाईं जाती हैं और दूसरी किस्म की पांच। भराई करने वाले अपने काम में माहिर होते हैं और तहों की कतारों को ऐसे सजाते हैं कि देखने वाले पर नज़र डालते ही नशा सा छा जाए। हर एक तह में बीस से तीस दाने लगाए जाते हैं और उनके नीचे धान की सूखी घास बिछाई जाती है ताकि यह नरम तथा नाज़ुक फल पूरी तरह सुरक्षित रहे। इस घास के नुकीले सिरों को अच्छी तरह कूट कर नरम बना लिया जाता है। सबसे ऊपर वाली तह को रंगीन कागज़ से सजाया-संवारा जाता है जिसे 'सिर तह' कहा जाता है। कहते हैं कि मंडियों में व्यापारी इसी तह को देख कर मूल्य निर्धारित करते हैं। पेटी को बन्द करने के पश्चात् उसके ऊपर फर्म के नाम तथा सेब की किस्म के ठप्पे लगाए जाते हैं। आखिर में पेटियों को गाड़ियों में लादकर जम्मू, दिल्ली आदि नगरों में भेजा जाता है। कश्मीर के जलवायु में अंबरी सेब अप्रैल मई तक सुरक्षित रह सकता है परन्तु दिल्ली ऐसे महानगरों में इसे बरफ खानों (COLD STORES) में रखना पड़ता है और समय-समय पर निकाल कर बेचा जाता है। अंबरी सेब के छिलके पर एक हल्के सफ़ेद रंग

का पाऊडर सा लगा होता है जो फल को ताजा तथा स्वस्थ बनाए रखने में सहायक सिद्ध होता है परन्तु अनुभवहीन दुकानदार फल को चमकाने की फिक्र में इसे पोंछ डालने की गलती कर देता है।

कश्मीर के सेबों में अंबरी की आयु सबसे लम्बी होती है। उसकी रंगत चाहे सदा बनी रहती है परन्तु कुछ महीनों में वह फुसफुसा हो जाता है। जिस विद्वान ने नारी के वक्षस्थल को सेबों की उपमा दी थी उसे संभवतः यह भी ज्ञात होगा कि युवती के उन्नत एवं पीन पयोधर समय के साथ-साथ अवनत होने लगते हैं और उन पर झुर्रियां पड़ने लगती हैं। ठीक इसी प्रकार अंबरी सेब भी समय गुजरने पर सिकुड़ना शुरू हो जाता है। इसका रस घटने लगता है और रेशा फुसफुसा सा होकर रह जाता है। तथापि इसकी महक कुछ और बढ़ जाती है।

अंबरी सेब बहुत ही स्वादिष्ट फल है। इसमें रस-माधुर्य संतुलित मात्रा में होता है। परन्तु चिपचिपाहट का नाम निशान तक नहीं होता। इसमें शहद की सी मिठास होती है। दांतों से आराम से कट जाता है और मुंह रस से भर जाता है। 'वैली आफ कश्मीर' के विद्वान लेखक सर वाल्टर लारेंस ने इसके स्वाद की चर्चा करते हुए इसे ज़रूरत से अधिक मीठा बताया है। इसका कारण यह है कि अंग्रेज़ों को हल्के मीठे एवं खट-मिठे रुचिकर लगते हैं।

इसकी एक विशेषता यह है कि अंबरी गर्भवती स्त्रियों के लिये बड़ा लाभदायक होता है क्योंकि इसमें आयरन बड़ी मात्रा में पाया जाता है। यह दिल के रोगी के लिये भी लाभकर सिद्ध होता है और कश्मीर में मेदे के अलसर का जो आम रोग है, अंबरी उसके लिये भी बहुत अच्छा रहता है क्योंकि इसकी चाशनी मेदे की अम्लता को कम करने में सहायक होती है। अंबरी को सुपाच्य फल माना जाता है। उच्च कोटि की मदिरा बनाने के लिये भी अंबरी का प्रयोग किया जाता है। यह सिरका बनाने के काम भी आता है।

कश्मीर में पिछली शताब्दी में अंग्रेज़ों ने फ्रांस से सेबों के पौधे मंगवाए थे जिन्हें कश्मीरी अब भी फाशी (फ्रांसीसी का कश्मीरी उच्चारण) कहकर पुकारते हैं। स्वतन्त्रता के बाद डिलिशियस, महाराजी, अमरीकन, आदि प्रकार बहुत बढ़ गए हैं। इनका रंग तो बढ़िया होता है परन्तु स्वाद में अंबरी से इनकी तुलना नहीं की जा सकती। अन्य प्रकार के सेब के पेड़ पांच छः वर्षों में फल देने लग जाते हैं इसलिए जल्दी पैसा कमाने के लालच में लोग इनकी ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं। उन में इतना धैर्य कहां जो वे अंबरी की कलम लगाकर उसके फलदार वृक्ष बनने की पन्द्रह वर्ष प्रतीक्षा कर पाएं। फलस्वरूप अब अंबरी के नये पेड़ लगने बन्द हो चुके हैं और पुराने काफी बूढ़े हो चुके हैं। इस लिए दस पन्द्रह वर्षों में अंबरी के दुर्लभ हो जाने की दुखद संभावना है।

मंडियों की गतिकी ने अंबरी की राह में और रुकावटें खड़ी कर दी हैं।

क्योंकि यह अब बाज़ार में बहुत कम मिलता है इसलिए इसके ग्राहकों की गिनती का कम होते जाना भी स्वाभाविक है और धीरे-धीरे लोग इसका स्वाद तक भूलते चले जा रहे हैं। नये ग्राहकों की इसमें अभिरुचि नहीं और पुराने चाहने वाले दिन प्रतिदिन समाप्त होते जा रहे हैं। ठीक उस तरह जैसे पंजाब में जब कोई चिता जलती है तो कहा जाता है कि उर्दू अखबार का एक और पाठक कम हो गया। यदि ग्राहक को अंबरी में रुचि नहीं रही तो उगाने वाले को किसी प्रकार की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती और यह स्वर्गिक फल खाने वालों और उगाने वालों के बीच के एक दुष्चक्र में फंसकर तेज़ी से लुप्त होता चला जा रहा है।

अंबरी को अब एक विपत्ति का भी सामना करना पड़ रहा है। इसके पेड़ों की गिनती बहुत कम हो गई है इसलिए भंवरे आदि केवल अंबरी के मादा और नर वृक्षों पर बैठकर पराग को समेटते बिखेरते नहीं बल्कि अंबरी के पेड़ से उठकर पास के डिलिश्यस अथवा अमरीकन के शगूफे पर जा बैठते हैं। इस प्रकार बीजाणु की तबदीली से श्री गणेश में ही मिलावट शुरू हो जाती है। यही कारण है कि आज का अंबरी सेव उस अंबरी से बहुत घटिया है जिसे हमारी पीढ़ी के लोगों ने बचपन में चखा था।

अंबरी के लिए शोपइयां के इलाके की भूमि बहुत बढ़िया है। वहां पानी की कोई कमी नहीं, जलवायु भी अनुकूल है और मिट्टी चिकनी तथा सख्त है। यह सभी बातें अंबरी की वृद्धि एवं विकास के लिए अमोघ हैं इसलिए पहले-पहल अंबरी वहीं उगाया जाता था और बहुत पसन्द भी किया जाता था। बाद में यह श्रीनगर और सोपुर में भी जा पहुंचा पर सच तो यह है कि वहां के सेब शोपइयां के सेबों की तुलना में ऐसे ही लगते हैं जैसे कुल्लू हिमाचल के सेब कश्मीरी सेब की तुलना में। शोपइयां के फल की मिठास, सुगंध तथा वर्ण दूसरे इलाकों के अंबरी में पैदा नहीं हो सकती। लोग इस मेवे की डालियों के लेन देन को बड़ा महत्व दिया करते थे और प्रसिद्ध इतिहासकार 'हसन' के अनुसार शोपइयां के अंबरी की सर्व-श्रेष्ठ सौग़ात को, लोग पगड़ियों में बांधकर कश्मीर से बाहिर ले जाया करते थे।

अंबरी पर स्कैब (SCAB) जैसी बीमारियों का कभी-कभी प्रकोप हुआ अवश्य है परन्तु कश्मीर की मिट्टी के साथ इसकी जड़ों के भरपूर एकाकार के कारण यह बीमारी इसे उखाड़ न पाई। थोड़ी सी दवा छिड़कने से इसका इलाज होता रहा है। परन्तु अब सेब की जो नई नस्लें सामने आई हैं उनका स्कैब के आगे टिकना असंभव प्रतीत होता है। इस बात ने कश्मीर के फल-उद्योग को हिला कर रख दिया है।

अंबरी के पुनः जीवित होने की कोई संभावना नहीं। उसे परिस्थितियों ने भयंकर, गहरी तथा अंधेरी खाई के किनारे ला खड़ा कर दिया है। □

□ अनु० जितेन्द्र शर्मा

क़ंपनशील वृक्ष बेंत

□ मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

फ़ारसी भाषा में लिखित कश्मीर के कुछ ऐतिहासिक ग्रंथों में ढाई सौ वर्ष से भी अधिक समय तक एक ऐसे वृक्ष का उल्लेख होता रहा जो अनोखेपन के कारण कश्मीर का एक मुख्य आकर्षण बन गया था। इस अद्भुत पेड़ ने केवल जनसाधारण को ही नहीं अपितु इतिहासकारों तथा राजाओं को भी आकर्षित किया।

अब यह विचित्र वृक्ष सदा के लिए अतीत के घोर अंधकार में विलीन हो चुका है और इसके लुप्त हो जाने से केवल कश्मीर ही की नहीं अपितु समूचे वनस्पति संसार की ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति कभी संभव नहीं। इस संसार की नवीनता तथा आलंकारिता जिन अद्भुत और अमूल्य वस्तुओं की आभारी रही है उनका संसार के अनेक प्राणीवर्गों की भान्ति एक-एक करके लुप्त होते होते जाना हमारी हीनता की भावना में वृद्धि कर रहा है। अब इस वृक्ष के पुनः प्रादुर्भाव की कोई संभावना नहीं रही अतः यह बात अधिक खेदजनक है कि प्रकृति के इस अवर्णनीय चमत्कार की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान नहीं दिया गया। यह हमारी एकांगी अभिरुचि का अन्यतम प्रमाण नहीं तो और क्या है ?

इस वृक्ष के कायिक-गठन द्योतक अवशेष अब चाहे उपलब्ध नहीं परन्तु कश्मीर की घाटी में इसकी उपस्थिति के ढेरों प्रमाण जन स्मृति में आज तक सुरक्षित हैं। विभिन्न जनश्रुतियों एवं परम्पराओं में इस 'वैदे लरज़ां' अर्थात् 'कंपनशील वृक्ष' के अस्तित्व के अनेक संकेत मिलते हैं। आवश्यकता है तो मात्र इस बात की, कि वनस्पति विज्ञान के विशेषज्ञ समस्त उपलब्ध प्रमाणों को अनुस्यूत कर इस वृक्ष की वंशानुगतता के गूढ़ रहस्य का पता लगायें और गहन शोध के द्वारा इसके विध्वंस के कारणों का पता भी लगाएं।

जिस 'हल थल' गांव में यह विशाल वृक्ष कभी विनाशकारी तांडव करता दिखाई देता था उसके प्रति अंग्रेज इतिहासकार 'अर्ल स्टाईन' ने राजतरंगिणी की टीका में लिखा है—

"इस ग्रंथ में जिस 'शला थला' गांव का वर्णन हुआ है वह वास्तव में 'हलथल' ही है और यह वही ऐतिहासिक स्थान है जहां महाराजा 'अनन्त' के समय में भयंकर युद्ध भी हुआ था।"

इसके अतिरिक्त 'स्टाईन', अकबर के दरबार के विद्वान् अबुलफज़ल के कथन की चर्चा करते हुए लिखता है—

"हलथल गांव में एक ऐसा वृक्ष था जिसकी टहनी को केवल छूने से पूरा वृक्ष कम्पायमान हो उठता था। 'हलथल' कश्मीर के 'यछ' परगना का गांव था परन्तु यह न तो 'सर्वे आफ इंडिया' के मानचित्रों में नज़र आया और न ही मैं प्रयत्न करके भी उसे ढूंढ ही पाया।"

प्राचीन ग्रंथों की जो प्रतियां हम तक पहुंच पाई हैं उनमें से 'मिर्ज़ा हैदर दोग़लात' की रचना 'तारीखे रशीदी' में इस वृक्ष की चश्मदीद गवाही का महत्वपूर्ण प्रमाण मिलता है। वह लिखता है—

"कश्मीर के 'नागाम' कस्बे में एक ऐसा वृक्ष उपलब्ध है जो इतना ऊंचा है कि कमान से छोड़ा हुआ तीर भी उसके शिखर तक न पहुंच पाए परन्तु इतना विशाल होने पर भी यदि कोई उसकी किसी टहनी का स्पर्श मात्र कर दे तो सारा वृक्ष थर-थर कांपने लगता है।"

मुग़ल शहनशाह अकबर के मंत्री एवं प्रसिद्ध इतिहासकार 'अबुलफज़ल' ने अपनी प्रसिद्ध रचनाओं 'आइने अकबरी' और 'अकबरजामा' में इस अद्भुत पेड़ की चर्चा की है। 'आइने अकबरी' मे वह लिखता है—

"कश्मीर के 'यछ' परगना का 'हलथल' गांव इन दिनों लोगों के ध्यान का केन्द्र बना हुआ है। वहां एक ऐसा असाधारण वृक्ष है जिसकी एक भी टहनी को यदि हाथ से थोड़ा-सा हिला दें तो पूरा पेड़ थरथराने लगता है।"

'अबुलफज़ल' ने इसी विषय पर 'अकबरनामा' में अधिक प्रकाश डाला है—

"बादशाह सलामत 'कोर खानपुरा' की सराए में विराजमान हैं और यह स्थान उस बहुचर्चित तथा देखने योग्य वृक्ष के कारण बहुत प्रसिद्ध है जिसे 'हलथल' के नाम से पुकारा जाता है। मुख्य मार्ग के किनारे पर स्थित यह पेड़ दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र है। इस वृक्ष की जड़ें पर्याप्त दृढ़ हैं एवं तना खूब मोटा-ताज़ा। इसकी अपरिमित टहनियां हैं और अगणित पत्ते। फिर भी इसके किसी भाग को कोई ज़रा-सा छेड़ दे तो पूरा पेड़ ज़ोर-ज़ोर से कांपने लगता है। इस परिवार के बहुत से पेड़ आसपास उपलब्ध हैं पर उनमें से किसी में भी ऐसा चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं होता।"

'अकबररनामा' के अंग्रेज़ी अनुवादक के 'ब्योरज' के अनुसार— 'खानपुर' का वृक्ष संभवत' वही है जिसकी ओर 'हैदर दोग़लात' ने संकेत किया है और उसे 'नागाम' कस्बे का एक आश्चर्यजनक वृक्ष कहा है।"

'इक़बालनामा' के विद्वान् लेखक के अनुसार, इस वृक्ष का नाम 'हलमल' था। 'अबुलफजल' ने भी गांव का नहीं अपितु पेड़ का नाम 'हलथल' बताया है और 'हैदर मलिक चाडूरा' ने भी इसे 'हलथल' के नाम से याद किया है।

'सर जार्ज कनिंघम' के अनुसार यह 'कंपनशील वृक्ष' वनस्पति संसार के PRINCOUT TRAGULLA परिवार के सदस्य हैं। शहनशाह अकबर के शासनकाल के एक और प्रसिद्ध इतिहासकार 'मुल्ला अब्दुल कादिर' ने इस पेड़ की चर्चा इन शब्दों में की है—"मुल्क कश्मीर में हमारे सैनिकों ने जिन विचित्र और आश्चर्यजनक वस्तुओं का अवलोकन किया उनमें 'खानपुर' का कंपनशील वृक्ष भी सम्मिलित है जो केवल छूने से डगमगाने डोलने लगता है।"

अंग्रेज़ी अनुवादक 'डवलयू एच लूई' ने इसे 'बैदे गिरिया' अर्थात् WEEPING WILLOW का नाम दिया है। उसके अनुसार—

"यदि कोई बच्चा भी इस पेड़ की टहनी को हाथ तक लगा दे तो सारे का सारा वृक्ष थरथरा कर विनाश का तांडव करने लगता है।"

अकबर के शासनकाल में 'मुल्ला मुहम्मद शाहआबादी' ने 'राजतरंगिणी का फ़ारसी में अनुवाद किया था। एक परम्परा के अनुसार यह अनुवादक दक्षिणी कश्मीर के 'शाहआबद' परगना का वासी था। उसने 'राजतरंगिणी' पर टीकाएं भी लिखी थीं और अपनी समझ-बूझ के अनुसार उसमें वर्णित कुछ स्थानों एवं पात्रों के नामों आदि का सुधार भी किया था। उसने 'हलथल' के सर्वप्रथम आलेख का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'कल्हण' ने कहीं भी 'हलथल' की चर्चा उसका नाम लेकर नहीं की परन्तु राजा अजीत पेड़' की बात करते समय यह संकेत अवश्य किया है कि राजा ने अपनी रखैल 'जीया देवी' को जो पांच गांव प्रदान किए थे वह 'हलथल नौगाम' परगना के थे और श्रीनगर शहर के समीप ही स्थित थे।'

'तुज़्के जहांगीरी' में शहनशाहनूरुद्दीन जहांगीर ने विस्तारपूर्वक लिखा है—

"मैं चकोर का शिकार खेलने 'चाडूरा' गया जो हैदरमलिक के पूर्वजों का गांव है और बाद में मैंने जिसका नाम 'नूरपुरा' रख दिया था। वहां मैंने 'हलथल' नामक एक ऐसा अनोखा वृक्ष देखा जो हाथ लगाते ही कांपने लगता है। अधिकतर लोगों के विचार में यह विशेषता केवल उसी एक वृक्ष में है परन्तु मैंने वहां बहुत से पेड़ देखे जो छूने पर उसी प्रकार तड़पने लगते हैं।"

कांपने की विशेषता रखने वाले एक से अधिक वृक्षों की सूचना हमें सर्वप्रथम 'तुज़के जहांगीरी' में ही मिलती है।

'चाडूरा' का 'हैदर मलिक' कश्मीर का रईस कहलाता था और जहांगीर का विश्वासपात्र था। पुस्तक 'बहारस्ताने शाही' की एक परम्परा के अनुसार हैदर मलिक ने 'ईबा खान चक' के सहयोग से 'मेहरुलनिसा' के पति 'शेर अफग़न' की बरद्वान (बंगाल) में हत्या करवा दी थी जिसके उपरांत जहांगीर ने मेहरुलनिसा को देर तक हैदर मलिक की शरण में रखा और उसने अपने वैधव्य की लम्बी अवधि वहीं व्यतीत की। इस बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जहांगीर को हैदर मलिक पर कितना भरोसा था। मेहरुलनिसा को कश्मीर में संभवतः इसलिए रखा गया कि वह आगरा एवं लाहौर के राज-दरबारों के कुटिल षड्यन्त्रों से सुरक्षित रहे और लगाई-बुझाई करने वाले उसे जहांगीर के विरुद्ध भड़का न पाएं। अथवा समय के अमोघ मरहम से उसके दिल के घाव भर जाएं और पति के असली हत्यारे अर्थात् जहांगीर के प्रति उसके हृदय में उत्पन्न घृणा धीरे-धीरे समाप्त हो जाए। हैदर मलिक तब तक उस अद्भुत अप्सरा की रखवाली करता रहा जब तक वह जहांगीर से विवाह करने पर सहमत नहीं हुई! विवाह के पश्चात् जहांगीर ने मेरुलनिसा को 'नूरेजहां' की उपाधि सुशोभित किया तथा हैदर मलिक की विनती पर चाडूरे का नाम 'नूरपुर रख दिया। 'तुज़के जहांगीर' के अध्ययन से भी इस घटना क्रम का अनुमोदन होता है।

जहांगीर की धरोहर की हैदर मलिक ने जो देखभाल की उसे संभवत लोगों ने पसन्द नहीं किया और तभी उसका प्रभाव समाप्त होते ही इस स्थान को 'नूरपुरा' की बजाए पुनः 'चाडूरा' पुकारना आरम्भ कर दिया गया। यह गांव उन दिनों चकवों के सुरक्षित आखेटस्थल से जुड़ा हुआ था। 'हैदरमलिक' के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भाग में यूरोप से कश्मीर आने वाले प्रसिद्ध पर्यटक 'विने' (VIGNE) ने लिखा है कि 'नूरजहां' एक मलिककुल की कन्या थी।

इस विचित्र वृक्ष का अंतिम प्रसंग हमें 'मुहम्मद आज़म' के सर्वश्रुत ऐतिहासिक ग्रंथ 'वाकयाते कश्मीर' में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह वृक्ष अकस्मात विपत्ति ग्रस्त हो गया। 'मूए मुबारक' के कश्मीर में आगमन का दृश्य 'मुहम्मद आज़म' ने अपनी आंखों से देखा था और उसकी मृत्यु 1765 में हुई थी। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 1765 तक यह वृक्ष उपलब्ध था। 'मुहम्मद आज़म' कश्मीर के इस चामत्कारिक वृक्ष की चर्चा करते हुए लिखता है, 'यछ' परगना के 'हलथल' गांव में एक ऐसा वृक्ष है जिसका नाम है 'अर अर सफेद'। कश्मीर निवासी

इस घने वृक्ष की छांव में बैठकर विश्राम करते हैं। परन्तु विशाल होने पर भी यदि कोई इसकी टहनी को हाथ तक लगा दे तो समस्त पेड़ बल्कि इसका तना भी कांप-कांप जाता है।

'तारीखे फरिश्ता' में 'मिर्जा हैदर गोगान' की हत्या की पूर्व संध्या की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि वह 'खानपुर' (नागाम) के उस कंपनशील वृक्ष के समीप युद्ध की तैयारी में व्यस्त था जिसके साये में एक साथ बाईस सशस्त्र अश्वारोही सुविधापूर्वक खड़े हो सकते थे। इस संदर्भ से इस पेड़ के अति विशाल होने का प्रमाण मिलता है एवं स्पष्ट होता है कि 'कंपनशील वृक्ष' भी 'चिनार' की भान्ति विशाल तथा वृत्ताकार पेड़ होता होगा। 'फरिश्ता' के कथनानुसार इस पेड़ की केवल एक टहनी को हिलाने मात्र से समूचा पेड़ तीव्रता से हिलने लग जाता था।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि यहां के इतिहास को दूसरी भाषाओं की तुलना में कश्मीरी भाषा में अधिक प्रामाणिक ढंग से लिखा जा सकता है। इसी पेड़ को लीजिये, एक पेड़ का नाम 'हलथल' बताता है तो दूसरा गाव का कोई उसे 'बैदे मजनूं' लिखता है तो कोई 'बैदे लरजां' और कोई 'अर अर सफ़ेद'। इसके विपरीत इसका अधिक प्रामाणिक परिचय तो हमें कश्मीर की जनश्रुतियों से ही प्राप्त हो जाता है।

'नागाम' से 'चरारे शरीफ' जाने वाली आजकल की पक्की सड़क को छोड़ यदि हम पुरानी पगडंडी का प्रयोग करें तो 'हापत नार' के समीप एक बहुत बड़ी ढलान दृष्टिगोचर होती है, परन्तु वहां 'हलथल' का कोई निशान दिखाई नहीं देता। संभवत: वह भूकंप ग्रस्त हो गया अथवा तूफानी वर्षा के कारण धरती के बह जाने से पूर्णतया नष्ट हो चुका है। यहां की भूमि की बनावट कुछ ऐसी है जहां अधिकतर ऊबड़-खाबड़ खाई-गड्ढेदार हैं जो निरंतर वर्षा के प्रकोप से कट-कट कर बह जाया करते हैं। इसके अतिरिक्त कश्मीर का यह भाग भूकम्प की चपेट में भी आता है। स्वयं हमने यहां की अनेक बस्तियों के सरकने-उजड़ने की चर्चा अपने कानों से सुन रखी है। 'मकबूल कालावारी' ने जिस गांव के विनाश की 'गरीसा नाम' में चर्चा की है। वह भी 'हलथल' से अधिक दूर नहीं था। इस ढलान को अब कश्मीरी भाषा में 'जीन्ता कुजन' कहा जाता जिसका अर्थ है 'वह स्थान जहां कंपनशील वृक्ष हुआ करते थे।' यह नाम भूमि सम्बन्धी बही खातों में भी उपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये वृक्ष इतने लोकप्रिय हो चुके थे कि इनके लुप्त हो जाने पर भी यह स्थान उन्हीं के नाम से जुड़ा चला आ रहा है। 'जहांगीर' ने अपनी 'तुज़क' में मात्र एक नहीं, अपितु ऐसे अनेक वृक्षों की जो चर्चा की है, इस नाम से उसकी भी पुष्टि हो जाती है क्योंकि 'कुजन' को बहुवचन माना जाता है। यूं जान पड़ता

है कि वहां होंगे तो वहुत से वृक्ष परन्तु उनमें से एक अति विशाल होने के कारण पर्यटकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता होगा अतः वे केवल उसी का गुणगान करते होंगे ।

'मुहम्मद आजम' ने इसे सफ़ेद रंग का पेड़ कहा है, इस लिए उसे 'बैद' के स्थान पर 'सफ़ेदा परिवार' का वंशज होना चाहिए परन्तु यह सीधा एवं ऊंचा पेड़ नहीं अपितु 'सेब' और चिनार' की भान्ति विस्तृत घेरेदार वृक्ष है । इसका नाम 'ज़ीन्ता कुज' से भी स्पष्ट होता है कि यह अवश्य किसी अन्य परिवार का पेड़ है कांपना जिसका विशेष गुण था । इस पेड़ से कोई फल आदि भी सम्बद्ध नहीं । फिर भी यह ऐतिहासिक वृक्ष चिरकाल तक बादशाहों की अभिरुचि का केन्द्र बना रहा और कश्मीर के असाधारण एवं मुख्य आकर्षणों की बात करने वाले लोग सदैव उत्साह और उल्लास के साथ इसकी चर्चा किया करेंगे । □

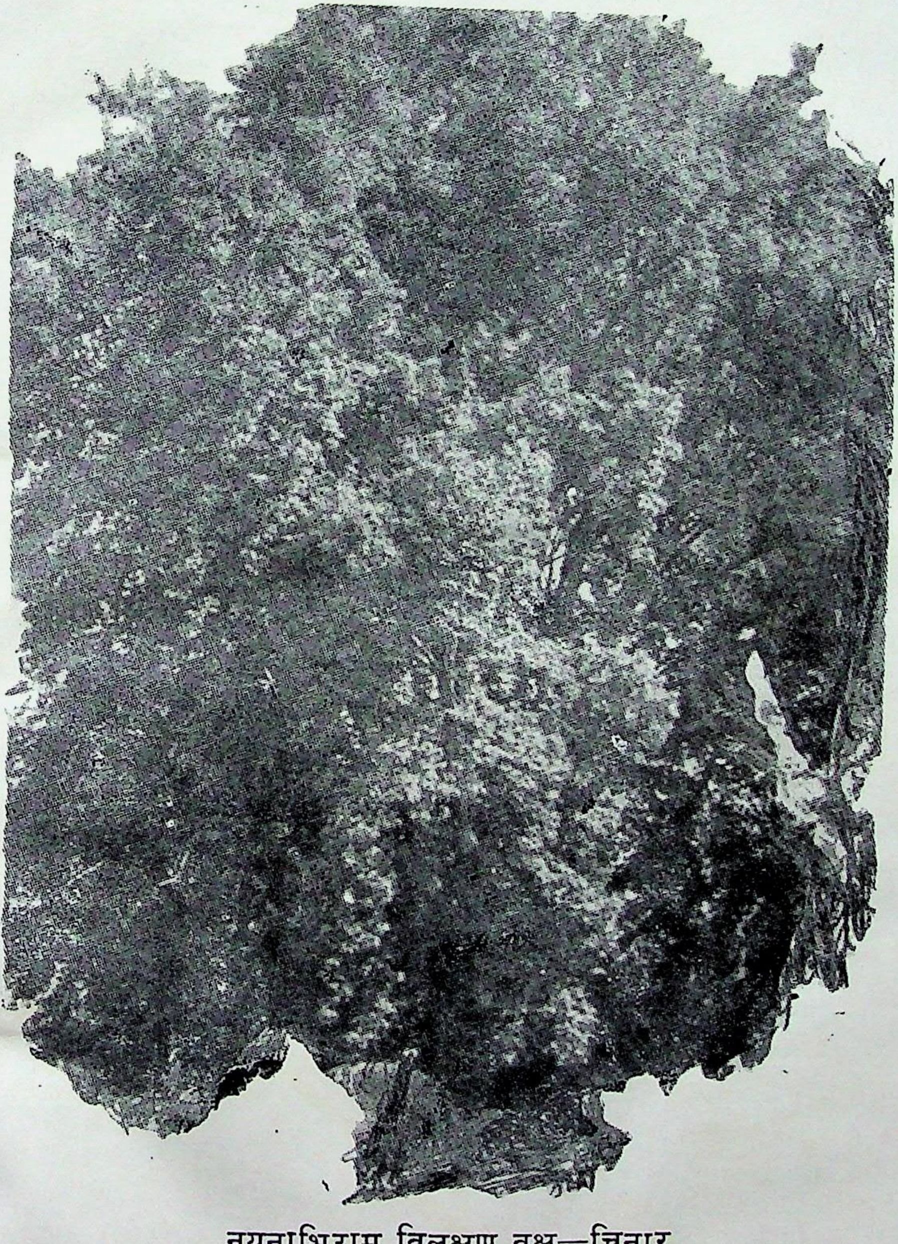
□ अनु० जितेन्द्र शर्मा

चिनार

☐ मोती लाल साकी

फूलों की वादी कश्मीर के श्रृंगार में प्रकृति ने जिस विशाल हृदय का प्रदर्शन किया है, उसी का एक सुंदर चिन्ह है चिनार। चिनारों की झुरमुटी छाया ने कश्मीर के सौंदर्य में ठंडक व नर्मी पैदा की है। मां-कश्मीर के माथे का टीका, चिनार एक ऐसा चिन्ह भी जलाल और जमाल का एक मीठा सूक्ष्म संगम है। हमारी दस्तकारी को एक विशेष प्रकृति देने में चिनार का एक अलग स्थान हैं। शालों या लकड़ी के पटल पर जब कुशल कारीगर चिनार या चिनार के पत्तों को उभारते हैं तो यों लगता है जैसे कश्मीर का समस्त सौंदर्य शाल या लकड़ी पर एकत्रित हो गया हो। चिनार का पत्ता जब कश्मीरी शाल पर सोज़नकारी के सहारे उभर आता है तब कपड़े को बेजान पटल पर ज़िंदगी मुस्कराने लगती है। सच तो यह है कि विरासत में प्राप्त अपने कला-कौशल में रंग भरने तथा उसे एक अलग दिशा देने में चिनार ने अपना भरपूर योगदान दिया है। संपूर्ण ठंडक और छांव का स्रोत चिनार पतझड़ में एक और ही नजारा प्रस्तुत करता है। पतझड़ में चिनार के सभी पत्ते 'आग ही आग' लगने लगते हैं और यों लगता है जैसे चिनार एक लपकता शोला हो जो आकाश को अपनी लपेट में ले लेना चाहता है। हवा हो या बरसात चिनार का खोखला तना यात्रियों के लिये शरण स्थल बन जाता है। आज भी यात्री व खानाबदोश चिनार के खोखले तनों में रात गुजारते हैं।

हमारी सुंदर धरती पर चिनार का वजूद आत्मा को आराम पहुंचाने वाला है। ठंड और छांव बरसाने वाले इस वृक्ष के सान्निध्य में हमारे बड़े बुज़ुर्गों ने कब से सुख व आराम का आनन्द लेना प्रारंभ किया, इसे लेकर इतिहास चुप है। परन्तु इसका कदाचित् यह अर्थ नहीं कि जब कल्हण ने राजतरंगिणी लिखी उस समय हमारे पास चिनार नहीं था। कल्हण जहां अभिनव गुप्त, गुण वामन, सोम आनंद और दर्जनों दूसरे व्यक्तियों की बात



नयनाभिराम विलक्षण वृक्ष—चिनार

करना भूल गया है वहां यदि उसने चिनार का ज़िक्र नहीं किया तो कोई बड़ी बात नहीं। यहां मुझे एक घटना याद आ रही है। संस्कृत के प्रसिद्ध कोश 'अमर कोश' को लेखक अमर सिंह ने एक वृक्ष की छाया में तैयार किया। उसका यह कोश एक बहुमूल्य प्रलेख है। परन्तु हैरानी की बात यह है कि जिस वृक्ष की छाया में उसने 'अमर कोश' रचा, उस वृक्ष का ज़िक्र उसके कोश में आने से रह गया है। संभवतः कल्हण भी इसी भ्रान्ति का शिकार हुआ हो क्योंकि अपनत्व प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन कम कर देता है। चिनार हम कश्मीरियों के जीवन में इस प्रकार से रच-बस गया है कि हमें उसके सौंदर्य उसकी छांव के महत्व एवं लाभ का लेशमात्र भी बोध नहीं रहा। चिनार का मूल्य तो तपते रेगिस्तानों के निवासियों से पूछो जो दूर से ही इस वृक्ष को देखकर ठंडक अनुभव करते हैं। कड़ाके की सर्दी में चिनार के पत्तों और कोयलों से भरी कांगड़ी हमारे शरीर को बढ़िया लगने वाली तपिश से गर्म रखती है व आनंद और मस्ती में ले आती है। इसकी लाल लकड़ी से 'प्लाईवुड' भी बनाया जा सकता है, जिसका सफल परीक्षण भी किया जा चुका है।

चिनार कश्मीर का अपना वृक्ष है। यह आलीशान वृक्ष इसी धरती की गोद में पैदा हुआ और शीर्ष तक पहुंचा है। 'चिनार' के कश्मीरी होने के कई प्रमाण हैं—

(क) इस वृक्ष का कश्मीर में अपना अलग नाम "बोणी/बोनी" है। अगर यह वृक्ष बाहर से आया होता तो इसका नाम भी साथ आता तथा किसी-न-किसी रूप में जीवित रहता। मेरे विचारानुसार कश्मीरी शब्द "बोणी/बोनी", जो बुनियादी सुदृढ़ता और पक्केपन के अर्थों में प्रयोग होता है, भी इसी वृक्ष के अनुरूप अस्तित्व में आया क्योंकि चिनार एक शक्तिशाली वृक्ष है और तेज से तेज हवा भी इसे जड़ से उखाड़ नहीं सकती। चिनार का कश्मीरी नाम "बोनी/बोणी" संस्कृत "भवानी" से निकला माना जा सकता है। संस्कृत में भवानी का 'माता देवी' के अर्थों में प्रयोग होता है। मां जो कि प्रेम तथा चैन का प्रतीक है। चिनार भी सुख व आराम देने में मां से कुछ कम नहीं। कश्मीर में कुछ दिल खींचते अर्थ-भरपूर मुहावरे व लोकोक्तियां भी इसी वृक्ष के अनुरूप अस्तित्व में आ गयी हैं जैसे 'छव्वर बोनी' (छायादार चिनार) 'बोनी मुहल तारून' (चिनार में सुराख करना, अर्थात् कठिन काम करना) 'बोनी गशील (चिनारों की घनी छांव) इत्यादि। ये मुहावरे और लोकोक्तियां इस बात के प्रमाण हैं। कि जब कश्मीरी बोली अपना अस्तित्व सिद्धकर रही थी उस समय चिनार कश्मीर में विद्यमान था।

(ख) कश्मीर वादी में जितनी तेजी से यह वृक्ष बढ़ता-फूलता है, संसार में किसी भी स्थान पर उतनी तेजी से यह वृक्ष बढ़ता-फूलता नहीं है। देखने में आया है कि कोई वस्तु अपनी असली धरती तथा असली वतन में ही तेजी से

शिखर तक पहुंचती है। कश्मीर में चिनारों का बड़ी संख्या में होना, चिनार के असली वतन की ओर इंगित करता है। वृक्षों के बारे में देखा गया है अगर उन्हें एक स्थान से उखाड़ कर दूसरे स्थान पर ले जाया जाये तो उनका कोई न कोई गुण समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये जो चिनार कश्मीर से बाहर ले जाये गये हैं उनकी छांव फैलती नहीं है और न ही उनका तना शक्तिशाली होता है। कश्मीर में चिनार बीज से उत्पन्न होता है और टहनियां लगाई जायें तो भी उग आती हैं। ये सभी कश्मीर से बाहर नहीं होता है।

(ग) वनस्पति वैज्ञानिकों ने कश्मीर, फरगानां (मध्य ऐशिया), ईरान और यूनान को चिनार का असली वतन बताया है। कश्मीर से लेकर काशगर, अफगानिस्तान एवं समरकंद के समस्त क्षेत्र में चिनार पाया जाता है परन्तु जिस बड़ी गिनती में चिनार के वृक्ष कश्मीर में दिखाई पड़ते हैं उतनी संख्या में ये वृक्ष अन्य किसी क्षेत्र में नज़र नहीं आते। प्रसंगवश यहां यह कह देना भी उपयुक्त लगता है कि चिनार के शक्तिशाली तने वाले वृक्ष या तो ईरान में मिलते हैं या फिर कश्मीर में। दुनिया में सबसे शक्तिशाली तने वाला चिरान ईरान के शहर तहरान के गांवों में कोहियलबरज़ के पास है। इस चिनार का तना 66 फुट है। इसके पश्चात् इस समय का मोटा चिनार बीज बिहाड़ा के बाग दाराशिकोह में है जिसका तना 54 फुट है। लारैंस (1890-95 ई०) के समय में लोलाल घाटी में एक ऐसा चिनार विद्यमान था जिसका तना 63½ फुट था। यूरोपीय-यात्रियों के इस कथन में कोई सच्चाई नहीं कि कश्मीर को चिनार मुग़लों की देन है। उनके इस दावे को स्वयं मुग़ल इतिहासकार व शहनशाह जहांगीर के बयान झुठलाते हैं। तबकात अकबरी में लिखा गया है कि कश्मीर में एक ऐसा चिनार विद्यमान है जिसकी छांव में एक समय में दो सौ सवार ठहर सकते हैं। शहनशाह जहांगीर तुजके जहांगीरी में लिखता है—"मैं हैदर मलिक के पुश्तैनी गांव चाडोरा में चकोरों का शिकार करने गया। यह स्थान हृदय को मोह लेता है। यहां तरल-तरल बहती नदियां और ऊंचा चिनार का वृक्ष है जिसके तने को आग द्वारा भीतर से खोखला कर दिया गया है। पच्चीस वर्ष पूर्व जब मैं घोड़े पर सवार होकर यहां से निकला उस समय मेरे साथ पांच घोड़े व दो आदमी थे। हम सभी घोड़ों सहित चिनार के खोखले तने में समा गये। इसके पश्चात् जब भी मैंने इस घटना का ज़िक्र किया तो लोग हैरान रह गये। इस बार फिर मैंने कुछ लोगों को इस चिनार के खोखले तने के भीतर जाने का आदेश दिया। अंततः वही हुआ जिसका मुझे पहले ही पता था। अकबरनामा में लिखा है कि मेरे पिता ने 34 आदमियों को इस खोखले तने में खड़ा किया जब कि इकबालनामा में लिखा है कि खोखले तने में 70 व्यक्ति समा गये।

चिनार का कश्मीर में मौजूद होना ललद्यद (चौदहवीं सदी) के कलाम से

भी सिद्ध होता है। अपने एक वाक्य में उसने "बोनी/बोणी" शब्द का प्रयोग किया है—

'के साहब रिन छुइ शीहज बोनि
बेरो नेबर त छूहल कर !'

अर्थात्—कुछ लोगों के लिये बोनी ठंडक (शीतलता) पहुंचाने वाला चिनार है। बाहर आओ एवं उसकी छांव से अपने आपको ठंडक पहुंचाओ। हमारे लोक-गीतों में भी चिनार की खूबियों की अत्यंत प्रशंसा मिलती है—

बु लगइ नावस त कडई गोसभ
वयरे तोसा बोनिभन तल।

अर्थात्—मैं तुम्हारे गम को दूर करने के लिये अपनी ज़िंदगी कुरबान कर दूंगी और चिनारों की छांव में शाहतूश का विछौना बिछाऊंगी।

जहांगीर एवं दूसरे इतिहासकारों के कथन इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि ऊंचे विशाल सौष्ठव एवं मज़बूत तने वाला चिनार कश्मीर में मुग़लों से सैंकड़ों वर्ष पहले विद्यमान था। परन्तु इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता कि सौंदर्य की पहचान रखने वाले, उसकी कद्र करने वाले एवं पूजा करने वाले मुग़लों ने कश्मीर में चिनार के बाग लगाए। चिनार के पौधों की दूध से सिंचाई की एवं उनकी छांव में बैठकर ज़िंदगी के मज़ों से वाकिफ़ हुए। मुग़ल गवर्नर अली मरदान ख़ान (1642—57 ई०) के बारे कहा जाता है कि उसने कश्मीर में बहुत बड़ी संख्या में चिनारों के बाग लगवाए।

चिनार जिसको कश्मीर में बोनी/बोणी, यूनान में 'दुब', अंग्रेजी में 'पलेन' (Plane) का नाम दिया गया है को वनस्पति शास्त्रियों के अनुसार "पलाटैनस ओरीयंटा" (Plantanous Orienta) कहा जाता है जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह वृक्ष पश्चिम को पूर्व की देन है।

चिनार यूनान व रोमनों का सबसे मनपसंद छायादार वृक्ष रहा है। आज भी जब हम फ्रांस के प्रसिद्ध शहर मारसलेज पहुंच जाते हैं तो सरसब्ज व शाहदाब चिनार हमारा स्वागत करते हैं। दक्षिण-पूर्वी यूरोप में चिनार यूनानियों द्वारा पहुंचा।

अमरीका में चिनार की जो किस्म उगती है उसे पलाटैनस ऐक्सीडैंटल का नाम दिया गया है। परन्तु वनस्पति विशेषज्ञों का विचार है कि चिनार की यह किस्म भी पूर्वी-चिनार का ही पैतृक रूप हैं और इसका अलग से कोई अस्तित्व नहीं है। अमरीका में जो चिनार उगता है वह हवा-पानी व धरती की पृथकता के कारण (विशेषता) थोड़ा सा अलग है पर है चिनार ही। वहां ऊहाइऊ एवं मिससपी क्षेत्र में पाया जाने वाला चिनार थोड़ा बड़ा है। जबकि

कैलीफोर्निया और अरीजोना में यह वृक्ष पूर्व के मुकाबले में छोटा होता है। अमरीका में इस वृक्ष की साइकामोर एवं बटनवुड़ कहा जाता है। उत्तरी अमरीका में इस का वृक्ष शेष सभी वृक्षों से बड़ा एवं शक्तिशाली तने वाला होता है। वहां इस परिवार के वृक्षों का तना दस से चौदह फुट के बीच मोटा देखा गया है। परन्तु वहां पचास से सत्तहर फुट की ऊंचाई तक यह पेड़ समाप्त हो जाता है।

यूरोप में चिनार के विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। यूनानियों व रोमनों की भांति वहां आज भी यह पेड़ सजावट के उद्देश्य से लगाया जाता है। यूरोप में चिनारों के पालन व उनकी देखभाल के लिये विशेष काम हो रहा है। कुस्तनतुबिया, रोम, वीयाना, बर्लिन, लंदन व पैरिस में चिनार के वृक्ष चारों ओर को अंतहीन रूप में रोमानी बनाते हैं। लंदन का चिनार, अमरीका व पूर्व के चिनार को पैतृक तरीके से मिलाकर तैयार किया गया है। अमरीका की सड़कों को छांवदार बनाने हेतु वहां बहुत अधिक संख्या में चिनार लगाये जाते हैं।

औद्योगिक तौर में उन्नति कर चुके शहरों में चिनार वातावरण के प्रदूषण को कम करने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके हमवार पत्तों को बरसात का पानी आसानी से धो देता है। इसके पत्तों की एक विशेषता यह भी है कि ये वर्षों तक सड़ते नहीं हैं। यही कारण है कि कुछ वर्ष पहले तक मकान बनाने के लिये लकड़ी के फर्श पर चिनार के पत्तों की एक मोटी तह बिछाई जाती थी। दूर-दूर के गांवों में यह सिलसिला अभी भी चल रहा है।

चिनार कश्मीर की सुंदरता और जमाल का प्रतीक भी है और हमारी सभ्य प्रवृति का उद्घोषक भी। आज जबकि माहौल को दूषित होने से बचाने के लिये विश्व-स्तर पर सक्रिय कार्यक्रम चल रहे हैं, चिनार एक मसीहा की भांति दूषित वातावरण के प्रभावों को आत्मसात करके स्वर्ग से कश्मीर में अमृत बरसा रहा है।

इसकी छाल स्वयंमेव उतर जाती है जिससे इसके तने पर किसी भी प्रकार की गंदगी जमी नहीं रह सकती। कश्मीर में बहुत दिनों से चिनार शाही वृक्ष की श्रेणी में रखा गया है। पर पिछले कुछ वर्षों से जिस बेदर्दी एवं बिना किसी अहसास से चिनारों को काटा, उखाड़ा और सुखाया जा रहा है उसका उदाहरण शायद ही इतिहास में मिल सके। हमारे बड़े-बूढ़ों ने चिनार के वृक्ष लगा कर कश्मीर के आत्मिक सौंदर्य को पोषित किया है। हम हैं कि चिनारों को काट कर केवल वातावरण का संतुलन ही नहीं बिगाड़ रहे अपितु भविष्य को भी अंधकारमय बना रहे हैं। □

अनु० मनोज शर्मा

ज़ाफरान

□ मोतीलाल 'साकी'

केसर और अंबरी अथवा अंबरी सेब कश्मीर की दो ऐसी सौग़ातें है जिन्होंने प्रकृति की इस भू-स्थली को चित्ताकर्षक बना दिया है। शायद इसी कारण सौंदर्योपासक सम्राट जहांगीर का कहना है कि कश्मीर को देश नहीं बल्कि एक बाग़ कहना उचित होगा।

केसर और अंबरी उस समय उग आते हैं जब यहां शरद् ऋतु का आरम्भ हो जाता है। यही वह समय है जब फूलों की इस बस्ती में उगे रंगारंग फूल मुरझाकर हमसे मानों विदा लेने को होते हैं और केसर के मखमली फूल खिल उठते हैं और अंबरी की महक दिलो-दिमाग़ को ताज़ा करती है। केसर और अंबरी की महक फिज़ा में मीलों तक उठती हैं। केसर वाटिका में जाइए या अंबरी सेबों के बाग़ में, आप एकदम महसूस करेंगे कि कोई आपको इत्र-फरोश की दुकान में लाया है जहां इत्र की शीशियों के ढक्कन खुले पड़े हैं।

संस्कृत में केसर को कुकम या कुंकुम कहते हैं। हिन्दी में इसको केसर और कश्मीरी में 'क्वंग' कहते हैं। यहां केसर की खेती प्राचीन काल से की जाती है। कल्हण कृत राजतरंगिणी में उल्लेख है कि केसर की गंठी तक्षक नाग ने महाराजा ललितादित्य (731-695 ई०) के मंत्री को भेंट स्वरूप प्रदान की थीं और तब से इसकी खेती तक्षकनाग के आस-पास बसे पांपोर के गांव में की जाती है। मगर कल्हण अपने इस कहे का अनुमोदन यह कहकर करते हैं कि कश्मीर केसर की धरती है। इसी बात का उल्लेख नीलमत पुराण में भी मिलता है। नीलमत पुराण सातवीं-आठवीं शती के बीच की रचना मानी जाती है जब कि राजतरंगिणी 12वीं शती में लिखी गयी है। यहां नीलमत पुराण पर ही बस नहीं किया जा सकता। सत्य यह है कि केसर के संबंध में अन्य स्रोतों से भी विपुल जानकारी प्राप्त होती है। मशहूर चीनी पर्यटक ह्वेन सांग (731-629 ई०) ने अपने यात्रा-संस्मरण में लिखा है कि कश्मीर में केसर की खेती करने

का श्रेय बौद्ध अरहट मध्यांतक को प्राप्त है। इसने केसर की गंठी गंध मैदान से अपने साथ यहां लायी थी। इसने यह भी लिखा है कि कश्मीर निवासी शरद् में केसर के फूलों की माला बनाकर पहनते थे। बौद्ध-धर्म के मानने वाले इन फूलों को पूजा में इस्तेमाल करते थे। मध्यांतक भगवान् बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति के बाद चौथी शती में अथवा अजात शत्रु के राजत्वकाल में कई बौद्ध अरहट साथ लेकर कश्मीर आए थे। कहा जाता है कि कश्मीर में बौद्ध-धर्म का प्रचार-प्रसार उसी ने किया और फिर यहीं का होकर रह गया। यह वह समय था जब बौद्ध-संघ का प्रवर्तक जीवित था। ह्वेनसांग से पूर्व रचित एक संस्कृत पुस्तक जो महायान बौद्ध-धर्म से संवंधित है, में भी कश्मीरी केसर का उल्लेख मिलता है। इस पुस्तक का नाम है 'महासंहित' और इसका चीनी अनुवाद 618-589 के मध्य हुआ है।[1] इस पुस्तक में केसर का चीनी नाम 'क्वंग-मो-न-का' लिखा है और एक बौद्ध विद्वान का नाम 'कोंग-मो-नि-मुनि' दिया गया है जिसका निवास स्थान कश्मीर है। कुछ विद्वानों ने केसर के कश्मीरी नाम 'ववंग' को 'कुंकुम' का विकृत रूप बताया है। मगर मैं समझता हूँ कि क्वंग चीनी कोंग से बहुत निकट है। चीनी में केसर के लिए दूसरा नाम प्रयोग में होने के कारण यही अनुमान लगाया जा सकता कि वहां भी केसर की उपज होती थी या होती हो।[2]

कश्मीर में बौद्ध प्रचारक मध्यांतक की बदौलत केसर की उपज को बढ़ावा मिलना कहां तक सही है। यह तो वाद-विवाद का विषय है। मगर मध्यांतक कश्मीर आए थे, इसका उल्लेख लंका का राष्ट्रीय इतिहास 'महादेश' और तारनाथ की 'भारत में बौद्ध-धर्म का इतिहास' में हुआ है। ऐतिहासिक सूत्रों के आईने में यदि देखा जाए तो कश्मीर में केसर की खेती दो दशकों से की जा रही है। चूंकि कश्मीर का केसर की खेती से सम्बन्ध है, शायद यही वजह है कि कश्मीर को 'कश्मीर जा' भी कहते हैं।

---

1. केसर का उल्लेख महाभारत में भी आया है। युद्ध की समाप्ति पर जो पुरस्कार हिमालय क्षेत्र के राजाओं ने महाराजा युधिष्ठर को प्रदान किए उनमें केसर भी था। चूंकि कश्मीर हिमालय का एक अंग है और साथ ही केसर कश्मीर के अलावा सारे देश में कहीं और पैदा नहीं होता। इसलिए यही कहा जाता है कि केसर कश्मीर में हज़ारों वर्षों से पैदा होता है।
2. कश्मीर में पैदा होने वाले केसर का उल्लेख पंचमी शती में कालीदास ने मुद्राराक्षस में भी किया है और छठी शती में हर्षवर्धन ने 'रत्नावली' में केसर का महत्वपूर्ण उल्लेख किया है।



फूले केसर की न्यारी क्यारियां

केसर[1] प्राचीनकाल से प्रयोग में लाया जाता है। हिन्दू इसको टीका लगाने और पूजा कार्य में प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त केसर से खास किस्म के मरहम और दवाइयां बनाई जाती हैं। पकवान तैयार करने में केसर मसाले के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। चाय के रसिया कश्मीरी कहवे को सुगंधित बनाने के लिए केसर का इस्तेमाल करते हैं। केसर का वर्णन हमारे लोक साहित्य में बार-बार आया है। इस तरह के दो गीत दृष्टव्य हैं—

हमने तुम्हारे किए केसर की खास तरकारी तैयार की।
प्रेम से इस को स्वीकार कीजिए।

या

री सखी!
पांपोर की केसर क्यारियों में
केसर चुनते-चुनते
ज़ेवर पाने के लिए
देर लगा रही है?

एक विशेष प्रकार का पुलाव तैयार करने में भी केसर का इस्तेमाल होता है। इस पुलाव को ज़ाफरानी पुलाव कहा जाता है। कश्मीर के अतिरिक्त ज़ाफरानी पुलाव ईरान और स्पेन में भी चाव से खाया जाता है। पश्चिमी देशों में अमरीका और स्पेन में भी केसर की काश्त की जाती है।

पश्चिमी देशों की बात चली है तो सब से पहले यूनान सामने आता है। यूनान में दरबार, अदालत और थियेटरों को सुगंधित रखने के लिए केसर का छिड़काव किया जाता था। रोम के लोग स्नान कक्षों में केसर के इत्र का छिड़काव करते थे। जिस समय राजकुमार नीरू ने रोम के शहर में प्रवेश किया, उस समय वहां के गली-कूचों को केसरी इत्र के छिड़काव से महकाया गया था। इत्र के अतिरिक्त पश्चिमी देशों में भी इसका प्रयोग दवाईयों में होता है। अरब विजेताओं ने इस की काश्त या उपज 961 ई० में शुरू की। इंगलिस्तान में लंदन 44 मील दूर वाल्डन के कस्बे में केसर की खेती के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ लोगों का कहना है कि वहां केसर की खेती शुरू करने का श्रेय त्रिपोली के एक यात्री को प्राप्त है जो इस की एक गंठी अपने खोखले डंडे में छुपा कर लाया था जब कि अन्य कई विद्वानों का कहना हैं कि इंगलिस्तान में केसर की खेती सलीबी युद्धों के बाद शुरू हुई।

1. तिब्बती में केसर को 'डामग्राम' कहते हैं जो संस्कृत के 'कुंकम' का विकृत रूप है।

विद्वानों की आम राय यह है कि केसर का असली वतन कोचक है जहाँ इस की उपज कोरगोज़ में होती थी और वहीं से इस की गंठियां पूर्व एवं दक्षिणीय देशों में पहुंच गयीं। (यह बात ध्यान देने योग्य है कि केसर-फूल से किसी किस्म का बीज नहीं निकलता। अलबत्ता ज़मीन में लगाई गई गंठियों की संख्या वक्त गुज़रने के साथ-साथ बढ़ती जाती है) यद्यपि कुछ लोगों ने कश्मीर को केसर का वतन कहा है, मगर बौद्ध अरहट मध्यांतक के सूत्रों से जो बात इस की उपज के बारे में कही गई है कि गंठी कश्मीर में बाहर से लाई गई हैं जो सत्य नहीं।

आठवीं शती की एक खास अरबी पांडुलिपि के अनुसार केसर भारत की एक विशेष उपज है जिस से यह बात साफ लगती है कि कश्मीर के केसर से सभी देशों के लोग काफी पहले से परिचित थे क्योंकि इस भू-स्थली के अतिरिक्त यह कहीं और नहीं पायी जाती। इसी पांडुलिपि में यह भी उल्लेख है कि कश्मीर में अलमास भी पाया जाता है जो कीमती होता है।

जम्मू-कश्मीर राज्य में इस सुरम्य घाटी के अतिरिक्त केसर की उपज किशतवाड़ में भी होती है। यहां जिस केसर की उपज होती है, उसका रंग शोख होता है किन्तु इस की सुगन्ध कश्मीरी केसर की तुलना में बहुत कम होती है।

केसर के जो खेत आज हमारे किसानों के लिए उनके ऐश्वर्य का प्रतीक हैं, शरुसी दौर में सोना उगलने वाले यही खेत उनके लिए दरिद्रता के मुख्य कारण माने जाते थे। हिंदू दौर के बारे में तो कुछ नहीं कह सकते किन्तु सुल्तानों के राजत्वकाल में केसर के खेत सरकार की देख-रेख में रहे। फूल चुनना और केसर को फूलों से अलग करना—यह काम लोगों से ज़बरदस्ती करवाया जाता था। इस बेगार के बदले में इन को थोड़ा-सा नमक दिया जाता था (याद रहे पुराने ज़माने में कश्मीर में नमक महंगा और नायाब था) गाज़ी खां चक के ज़माने में केसर चुनने के बेगार को खत्म कर दिया गया। इसने 55 सेर केसर के फूल चुनने के बदले में पांच सेर चुने हुए फूल श्रमिकों को पारिश्रमिक के तौर पर दिए।

केसर के फूल चुनने के पुराने तरीके सम्राट अकबर ने सन् 1567 ई० में खत्म किए। मगर उसकी मृत्यु के साथ ही बेगार का पुराना तरीका फिर से लागू किया गया और लोग अत्याचार की चक्की में पिसते रहे। शाहजहां को जब इस बात का पता चला तो उसने एक शाही आदेश द्वारा इस तरह की बेगार को खत्म किया। उसके अनुसार केसर के खेत सरकार की पूंजी है, इसलिए इसमें काम करने वाले मज़दूरों को नियमित रूप से मज़दूरी मिलनी चाहिए। साथ ही इसने जागीरदारों को यह आज़ादी भी दे दी कि वह जिस प्रकार चाहें, केसर की अपनी फसल जमा कर सकते हैं। इस बात से यह संकेत

मिलता है कि सरकार के अतिरिक्त केसर की उपज उस जमीन में भी होती थी जो जागीरदारों की संपत्ति थी। पठानों के राजत्व काल में केसर के खेतों को नीलामी द्वारा ठेके पर दिया जाता था। तत्पश्चात् इसकी राशि को सरकारी कोष में जमा किया जाता था। यही वह समय था जब ठेकेदार अन्य क्षेत्रों से मजदूर ला कर फूल चुनने में लगा देते थे। पठानों के बाद सिक्खों और डोगरा राजाओं ने भी ठेके के इस सिलसिले को जारी रखा। इस वक्त केसर सरकारी आय का एक प्रमुख साधन था। किन्तु दुर्भिक्ष में जान बचाने के लिए लोग केसर की गंठियां खा लेते थे जिसके फलस्वरूप इसकी उपज पर खासा प्रभाव पड़ गया था। सन् 1834 ई० के दुर्भिक्ष में जब लोग केसर लगभग सारी गंठियां खा गए तो काश्त करने के लिए बीज की गंठियां किशतवाड़ से लायी गयी। सन् 1950 ई० में किसानों को जमीन के स्वामित्व अधिकार मिल जाने के साथ ही उन पर किया गया शोषण का यह सिलसिला खत्म हो गया। यों तो इसकी काश्त शताब्दियों से पांपोर के गांव से नियत थी जबकि अबुल फज़ल के अनुसार अंतंकोटि में एक मील के क्षेत्रफल पर केसर की काश्त होती थी। अगर जहांगीर ने इसके वक्तव्य को यह कह कर नकारा है कि सारी कश्मीर-घाटी में केसर सिर्फ पांपोर में उगाई जाती है। सिक्ख राज्यपाल महानसिंह ने मटन और दामोदर पठारों पर केसर की काश्त करने का प्रयोग किया था जो असफल रहा। अब पासा पलट गया है। अब सितम्बर में नागाम के पठार केसर की सुगन्ध से महक उठते हैं और मीलों तक ये फूल लहलहाते नजर आते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे क्षेत्रों में भी केसर उगाई जाती है जो पांपोर में उगे केसर से किसी तरह कम दर्जे का नहीं है। इस तरह का कार्य अब घाटी के चतुर्दिक विकास की ओर उन्मुख है। इस सिलसिले में हमारा कृषि विभाग भी काफी काम कर रहा है। इस तरह की नई परिस्थितियों ने केसर उगाने की पुरानी परम्पराओं को नष्ट कर दिया है और साथ ही यह शक भी कि केसर पांपोर में ही उगाई जा सकती है।

जमाने के उतार-चढ़ाव के साथ केसर की उत्पादन में भी कमी होती रही। अकबरनामा में उल्लेख है कि उस समय एक गंठी पर तीन फूल उगते थे और सरकार को कभी 25000 मन और कभी 888½ मन फूल प्राप्त होते थे। मिर्जा हैदर दुगलत के समय 3500 मन केसर के फूल प्राप्त होते थे और सन् 1515 ई० में जब केसर की काश्त-भूमि सरकार ने अपने हाथ में ले ली तो प्रति गंठी पर आम फूल खिल उठे और इसकी उत्पादन 11220 मन हो गयी। एक अनुमान के अनुसार एक सेर शुद्ध केसर से 28 सेर फूल प्राप्त होते थे।

अबुल फज़ल के अनुसार केसर की गंठी थोम की गंठी जैसी होती है और इसको अप्रैल मास में ज़मीन में लगाया जाता है। वर्षा से गंठियां अपनी जड़ें जमा लेती हैं और सितम्बर के महीने में इस पर फूल खिलना शुरू हो जाते हैं। केसर

का पौधा लगभग एक फुट ऊंचा होता है किन्तु इसकी ऊंचाई उपजाऊ भूमि पर निर्भर करती है। शायद मुग़लों के जमाने में गंठियां अप्रैल में बोयी जाती थीं, मगर अब यह तरीका बिल्कुल बदल गया है। आजकल गंठियां जुलाई-अगस्त के बीच क्यारियों में लगाई जाती हैं। हर क्यारी जिसको कश्मीरी में 'क्वंगा-वोर' कहते हैं, चौकोर होती है। इसकी लम्बाई आठ फीट तथा चौड़ाई सात फीट होती है। ज़मीन में हल चला कर सबसे पहले मिट्टी के ढेले अच्छी तरह तोड़े जाते हैं। इसके बाद इसे क्यारियों में बांटा जाता है। यहां क्यारियों का ढलानदार होना ज़रूरी है ताकि वर्षा का अतिरिक्त पानी इनमें ठहर न पाए क्योंकि पानी के ठहरने से गंठियां सड़ जाती हैं। पानी के निष्कासन के लिए क्यारी के आस-पास नाली या रास्ता बनाया जाता है। इसके बाद क्यारी में 10 इंच से लेकर एक फीट की मेढ़ें बनाई जाती हैं जिनमें पांच से छः इंच की दूरी पर केसर की गंठियां लगायी जाती है। केसर की काश्त के लिए पठार-भूमि की ज़रूरत होती है किन्तु भूमि मूलरूप से उपजाऊ होनी चाहिए क्योंकि काश्त के लिए न तो ज़मीन में किसी तरह के उर्वरक का इस्तेमाल होता है और न ही इसे पानी दिया जाता है। यह हाल ही की बात है कि जिस भूमि पर केसर की खेती की जाती थी, उसकी क्यारियों को वर्षों तक खाली छोड़ना पड़ता था ताकि वह ज़रखेज़ या उपजाऊ बन सके। गंठियां ज़मीन में चौदह वर्षों तक भी सही हालत में सुरक्षित रहती थीं। इसके बाद इनका स्थान नई गंठियां ले लेती हैं। वास्तव में इतनी देर तक गंठियों को ज़मीन में नहीं रहने दिया जाता और प्रति तीन वर्ष के बाद गंठियां उखाड़ने और नए सिरे से इनको बोने का तरीका अपनाया गया है जिसकी बदौलत उत्पादन अच्छा होता है।

केसर का मखमली फूल केन्यू से मिलता-जुलता है। जब केसर के खेत खिल उठते हैं तो उस समय हर तरफ महक से वातावरण महमहा उठता है। केसर की इस महक का असर उन लोगों पर नहीं होता जो फुल चुनने के अभ्यस्त होते हैं, किन्तु यह बात हर एक के लिए सच साबित नहीं होती। जहांगीर ने यहां तक लिख छोड़ा है कि जब अधिकारियों समेत वह केसर के खेतों का भव्य दृश्य देखने के लिए गए तो उस समय सभी लोगों ने सिर दर्द महसूस किया। फूल चुनने की प्रक्रिया भी दिलचस्प होती है। चुनने के बाद फूलों को धूप में सुखाया जाता है। फिर फूल के बीच में मौजूद डंडियां चुन ली जाती हैं। ये डंडियां केसरी रंग की होती है किन्तु इसका कुछ भाग सफेद भी होता है। कश्मीरी में केसर की इन डंडियों को 'तिहिज' कहते हैं। डंडी के लाल भाग को शाही ज़ाफरान कहते हैं। इसका सफ़ेद भाग भी केसर ही होता है, मगर शाही ज़ाफरान से कम दर्जे का होता है। शाही ज़ाफ़रान की गिनती प्रथम श्रेणी में होती है जबकि सफ़ेद भाग वाली दूसरी श्रेणी की। डंडियां अलग करने के बाद फूल एक बार फिर धूप में सुखाए जाते हैं। इसके बाद इनको

छड़ी से हल्के-हल्के कूटा जाता है। इस प्रक्रिया के बाद फूलों को पानी में डाला जाता है। फूल पानी पर तैरते रहते है और बचा हुआ केसर जिसमें ज़रे-गुल भी शामिल होता है, तह में जमा हो जाता है। इसके बाद पानी को निथार कर तह में जमा कर केसर को सुखाया जाता है। यह तीन बार होता है। शाही ज़ाफरान को कश्मीरी में 'मिगांर' और दूसरे दर्जे के ज़ाफरान को 'पट' कहते हैं। केसर की क्यारियों से जो उत्पादन होता है, उसकी जानकारी देना यहां उचित होगा। केसर की काश्त करने वालों की भाषा में पचास क्यारियों पर फैले रुकबे को 'पथ' कहते हैं। एक 'पथ' से पहले वर्ष ढाई सेर फूल प्राप्त होते हैं। दूसरे वर्ष यह उत्पादन साढ़े चार सेर और तीसरे वर्ष नौ सेर तक पहुंच जाता है। यदि क्यारियों की देख-रेख अच्छी तरह न की जाए और चूहे मारने का इन्तज़ाम न हो तो उत्पादन घट जाता है। वर्ष में ज़मीन की चार बार गुड़ाई करना आवश्यक है। ज़मीन में नमी होने से अच्छी फसल नहीं होती है। यदि अप्रैल और मई के बीच अच्छी वर्षा न हो तो केसर की भरपूर खेती की आशा नहीं की जा सकती। अभी तक केसर बीमारियों से बचा हुआ है, भविष्य में क्या होगा। कुछ कहा नहीं जा सकता। एक और रोचक बात तो यह है कि मधुमक्खियों के जो छत्ते केसर के खेतों के आस-पास लगे हुए हैं, उनसे प्राप्त होने वाला शहद सुगन्धित होता है।

केसर की धरती कश्मीर रंगों और नज़ारों की अप्रतिम एवं पावन भूमि है इसको कभी शारदा पीठ, कभी छोटा ईरान और कभी बहुतायत में केसर होने के कारण केसर-वाटिका भी कहते हैं। हमारी धरती नाम की ही नहीं, बल्कि सोना उगाने वाली धरती है जिसके चमन में केसर पैदा होता है जो सोने से किसी तरह कम नहीं। हमारे ज़ाफरान ज़ार सोने की ऐसी खानें हैं जो कभी खाली नहीं हो सकतीं। □

अनु० अवतार कृष्ण राज़दान

कांगड़ी

□ मोती लाल 'साकी'

कश्मीर और कांगड़ी एक दूसरे की पहचान के पर्याय हैं। जहां कांगड़ी पहुँची वहां कश्मीर का नाम भी मशहूर हो गया और जिसने कांगड़ी देखी, उसे कश्मीर की याद हो आयी। शिशिर हो या ग्रीष्म, वसन्त हो या शरद, कश्मीरी-घर में कांगड़ी तो देखी ही जाती है। जिस तरह कांगड़ी में रखी आग के अंगारे अभी भड़कते हैं तो अभी ठण्डे पड़ जाते हैं, उसी प्रकार कश्मीरियों का स्वभाव क्रुद्ध और नरम होने में देर नहीं लगती। कड़ाके की सर्दी और मार्गशीर्ष, उपवास और महंगाई। यह कश्मीरी कहावत यहां कांगड़ी पर सही उतरती है। कांगड़ी कश्मीरियों के स्वभाव के इतनी अनुकूल बन गयी है कि आषाढ़ की तपती धूप में भी ये इसको नहीं छोड़ते। बरसात में यदि बारिश खूब बरसे तो कांगड़ी की तुरन्त याद आती है और वसंत की ठण्डी फुहार में तो कांगड़ी कश्मीरियों के गले में लटकी ही रहती है। और हां, बिछावन कितना ही कीमती क्यों न हो, क्या मजाल कि कांगड़ी को इस पर स्थान न मिले। कांगड़ी को देखकर कश्मीरी लोग यह कहकर मचल उठते हैं—

वारी जाऊँ तुम पर, मेरी कांगड़ी।
चार से लाया हूँ तुझे, अरी मेरी छमछम कांगड़ी।
इस्लामाबाद की मेरी प्यारी कांगड़ी।
वारी जाऊँ तुम पर, मेरी कांगड़ी।

और एक अन्य लोक-गीत में कांगड़ी के साल भर के सफ़र का सुन्दर चित्रण इस प्रकार मिलता है—

री कांगड़ी!
वैशाख में तुझ में शोले कहां भड़क सकते हैं

ज्येष्ठ में तो पागल हो जाती हो
आषाढ़ में बिल्कुल भाग जाती हो
श्रावण में यौवन का खुमार चला जाता
भाद्रपद में सब दुत्कारते हैं
आश्विन में हां, कासिद को भेजूंगा
कार्त्तिक में अंगारों को भड़काऊँगा
मार्गशीर्ष में अपनी गुलाम बनाऊँगा
पौष में पेड़ों की सूखी पत्तियां डालूंगा
फाल्गुन में अपना पीछा छुड़ा लूंगा
चैत्र में तुम बिल्कुल ठण्डी पड़ जाओगी।

कश्मीरियों को ही क्यों, कांगड़ी सबों को प्यारी है। इतनी प्यारी जितनी मजनूं को लैला थी। यदि कांगड़ी न होती तो कश्मीरी जन पौष की ये लम्बी और ठण्डी रातें कैसे बिताते! किन्तु जाड़े में यहां किसी के साथ तू-तू, मैं-मैं होना भी कयामत है। उस समय प्राय: आपस में बड़े गुस्से से कहा जाता है कि "कांगड़ी फेंकूंगा तो जल जाओगे, ऊपर से नीचे तक" और जब कभी इस तरह की नौबत आक कांगड़ियां एक-दूसरे पर फेंकी जाती है तो कुछ मत पूछिए कि क्या हो जाता है। दोनों के तन पर जलने से घाव हो जाते हैं। फिर भी कुछ नहीं हुआ यार! घर पहुंचने पर दोनों सर्दी की ठिठुरन से बचना चाहते हैं किन्तु तुर्रा यह है कि वहां कोई भी इनको कांगड़ी देने के लिए तैयार नहीं होता, कांगड़ी, उसकी अपनी कांगड़ी टूट गयी है। घर में सबों की अपनी-अपनी कांगड़ी होती है और कौन चाहेगा इस ठिठुरती सर्दी में अपनी कांगड़ी गंवाना! इसी को देखकर कई योरुपीय विद्वानों ने कहा है कि कश्मीरियों की कांगड़ी गले से लटकी हुई होती है।

कश्मीरी जन जहां भी गए हैं, वहां कांगड़ी पहुँची है। यहां तक कि राजस्थान में भी शीत लहर चलने पर कांगड़ी का इस्तेमाल करते लोगों को देखा गया है। यह वही राजस्थान है जहां ग्रीष्म में तपती धूप से लोग तड़पते हैं।

उन्नीसवीं शती में कांगड़ी अमृतसर और लाहौर पहुँची। आज यह किस-किस के ससुराल में दिन बिताती है, इसकी गणना करने के लिए किसके पास समय है। कांगड़ी की बुनाई कश्मीर के बाहर के क्षेत्रों में भी होती है, किन्तु कश्मीरी कांगड़ी की बारीकी और इसके बुनने की एक विशेष कला तो विशेषतया कश्मीरी कारीगर के पास ही है। यहां जो विभिन्न प्रकार की कांगड़ियां बुनी जाती हैं, उनकी नज़ाकत ही कुछ और होती है। छम-छम

कांगड़ी, वाण्डीपुरा कांगड़ी, चार कांगड़ी इनमें से विशेष हैं। यहां तो कांगड़ी बस एक है किन्तु इसकी बुनाई और बनावट में फर्क दिखाई देता है और इसी के आधार पर इनका मूल्य भी निश्चित किया जाता है। एक विशेष प्रकार से बनी हुई चार कांगड़ी गठीली दुल्हन की तरह दिखती है। इतनी सुन्दर और बारीक मानों हृदय हरने लगी और हां, यदि इसमें थोड़े से अंगारे भड़केंगे तो इसकी बुनाई एकदम जल जाएगी। यही कारण है कि लोग इसको इस्तेमाल करने के बजाय सजावट के काम में लाते हैं। 'लिन्य' जैसी बारीक डालियों से भड़कते कोयले रखे जाएं तो यह दिन भर के लिए इस्तेमाल की जा सकेगी। मज़बूती की दृष्टि से ज़ैनागीर कांगड़ी भी यहां मशहूर है। यह शहतूत की लकड़ी की आग भी अपने में समा सकती है और यदि इसको सम्भाल कर रखा जाए तो कई वर्षों तक काम में लायी जा सकती है।

कांगड़ी की मज़बूती इसकी बुनाई पर निर्भर करती है। जैसी डालियां होंगी, वैसी ही कांगड़ी होगी। किन्तु इसका 'कोप' या ऊपर वाला भाग इससे भी मज़बूत होना चाहिए। बारीक से बारीक डालियों में बुनी गयी कांगड़ी से ज्यादा गर्माहट ली जा सकती है। 'कंछ' डालियों से बुनी गयी कांगड़ी की भी जोरदार आंच होती है किन्तु यह ज़्यादा देर तक टिकाऊ नहीं रहती क्योंकि इसकी बुनाई आंच लगने से सूख जाती है। 'पाशि' डालियों से बनी कांगड़ी बहुत मज़बूत होती है किन्तु ये शेष सभी डालियों से मोटी होती है, जिससे इसकी बुनाई में कुछ मुश्किल होती है। फिर भी यदि बारीक डालियों से बनी कांगड़ी का 'पोश' डालियों का 'कोप' या निचला भाग हो तो वह भी टिक सकती है। 'कुलिम' डालियां और 'गीर्य' डालियां भी कांगड़ियां बनाने के काम में लायी जा सकती हैं। किन्तु इस तरह की कांगड़ियों में डालियों से ज्यादा कपड़ा इस्तेमाल किया जाता है। कपड़े की बात छिड़ गई है तो देखिए यह कपड़ा भी क्या होता है! हां, यह वह कपड़ा नहीं जो वस्त्र बनाने के काम आता है। यहां कपड़ा बारीक और मोटी डालियों के सम्मिश्रण को कहते हैं। यदि इस प्रकार की डालियों से कांगड़ी बुनी जाए तो इसको 'अस्त्र-कांगर' कहते हैं।

कांगड़ी के बुनने में मुख्यतः दो चीज़ों का प्रयोग किया जाता है। 'कंडुल' या बड़ा प्याला और 'कानि' या डालियां। चार-कांगड़ी की मुख्य विशेषता यह कि इसका 'कंडुल' प्यालानुमा होता है और इसके बीच-पास से विशेष प्रकार की बुनाई की जाती है। कांगड़ी की खोपड़ी जिसको कश्मीर में 'कोर' कहते हैं, के भी तीन भाग या हिस्से होते हैं—चोक, डब और कोप। आम कांगड़ियों का चोक या निचला भाग घास की बनी गोलाकार गठरी की तरह होता है। किन्तु बारीक तथा जालीदार आईना चिपकाये कांगड़ी का निचला भाग ऊंचा होता है। ज़ैनागीर कांगड़ियों का भी खुली जालियों में बुना यह

निचला भाग ऐसे ही होता है, किन्तु यह 'चार' कांगड़ी के निचले भाग से चौड़ा होता है। पतली और बारीक कांगड़ियों की डब या मंझला भाग बुनने के लिए रगरिंग डाल इस्तेमाल किए जाते हैं। छम-छम बनी जालीदार कांगड़ियों को छोड़कर जो कांगड़ियां बारीक एवं पतली डाल से बुनी जाती हैं, उनके पीछे से हाशियानुमा डोरी भी बुनी जाती है। 'कोप' या खोपड़ी के भी दो भाग होते हैं—'दर' और 'पहर्य'। 'दर' कांगड़ी की तुण्ड को दोनों ओर से घुमाती है। 'पुहर' कुछ उन डोरियों को कहते हैं जो गोलाकार कांगड़ी में पीछे से जोड़ी जाती है। जिन कांगड़ियों का फूटा 'कोप' या ऊपर वाला भाग होता है, उनका 'पुहर' कुण्डल या प्याले के नीचे तक होता है और जिन कांगड़ियों का 'कोप' या ऊपर वाला भाग मजबूत हो, उनका 'पुहर' 'कुण्डल' या प्याले के निचले भाग तक बनाया जाता है। जिन कांगड़ियों के चौदह से लेकर चालीस तक 'पुहर' हों, उनको मज़बूत कांगड़ियां कहा जाता है। चालन (राख को उलटाने का यन्त्र) बांधने के लिए 'पुहर' में ही डाल का एक छोटा-सा गोलाकार फंसाया जाता है। इससे 'कोप' या कांगड़ी का ऊपर का भाग भी पकड़ लिया जाता है। रंगदार कांगड़ी बुनने के लिए डालियां पहले रंगी जाती हैं और इसके लिए अधिकाधिक तीन या चार रंगों की डालियां इस्तेमाल की जाती हैं। डालियों को रंगने का काम स्वयं कांगड़ी बनाने वाला करता है।

कांगड़ी की बुनाई में कारीगर को तीन चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है—अंड (एक नेज़ा) आरी और छीलन। 'अंड' से वह डालियां निकालता है। इनको फिर पानी में डुबोकर छीलता है। आरी से डालियों को जोड़ने और छीलने का काम लिया जाता है। अब रहा कच्चे माल का सवाल ! हां, डालियां और बड़े प्याले। डालियां वनों और कंढी क्षेत्रों में आसानी से मिलती हैं। यहां पोश, लिन्य और कुछ डालियों के अनगिनत झुंड मिलते हैं। शेष प्रकार की डालियां पथरीले क्षेत्रों में पायी जाती हैं। कुण्डल या प्यालानुमा बर्तन मिट्टी का बना होता है जो कुम्हार बनाता है। यहां ऐसे कुम्हार भी हैं जो मिट्टी की ऐसी कांगड़ी बनाते हैं जिनका 'कोप' भी मिट्टी का ही होता है। ऐसी कांगड़ियों को डालियों की बुनाई करने की जरूरत नहीं होती है, किन्तु ऐसी कांगड़ियां आम इस्तेमाल में नहीं लायी जातीं। शायद ही कोई आदमी हो जो ऐसी कांगड़ी के इस्तेमाल से अपनी टांगें और कपड़े आंच से बचा पाया हो।

कांगड़ी का आविष्कार कहां हुआ और इसे कब से कश्मीरयों ने गले लगाया है—इस संबंध में जिस किसी ने जो चाहा, कह दिया। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा कि सम्राट अकबर के साथ जो इतालवी पर्यटक यहां आए, वही इसे साथ लाये और सम्राट ने यह कश्मीरियों को इस तरह भेंट दी कि इनको आलस्य से छुटकारा ही न मिले। कुछ लोगों ने यही सत्य माना और इसी पर विश्वास करते रहे। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि हम वही बात

सच मानते हैं जो दूसरे कहें, चाहे वह सत्य से कोसों दूर क्यों न हों, खास कर हमारी संस्कृति के संबंध में कोरा झूठ सुनने में हमें मज़ा आता है। इटली के किसी भी मृण-भाण्ड, जिसमें आग रखी जाए, हमारी कांगड़ी के साथ कोई समानता नहीं है। इटली का यह अग्नि-भाण्ड शक्ल में एक लम्बी प्यालीनुमा होता है और जो अग्नि-भाण्ड इतालवियों ने यहां अपने साथ लाया था, वह बाल्टी जैसा था जिसके पीछे हेंडल लगा था। रोमन दौर से ही वहां इसको 'तुरला' कहते थे, जिसकी हमारी इस कांगड़ी से कोई समानता नहीं।

इतना होने पर भी हमें कांगड़ी इटली की देन मानने से कोई इन्कार नहीं था, किन्तु सत्य यह है कि कांगड़ी को प्राचीन काल से कश्मीरी इस्तेमाल करते आए हैं। मंख ने 'श्री कंठ चरित' में लिखा है—'ज्यों ही यहां शिशिर शुरू होता है, कांगड़ी या हस्तिनका में अंगार ऐसे भड़कते हैं जैसे लाल-लाल आंखें। शिव को अपने बस में करने के लिए कामदेव ने भी यही चाल चली थी, जिससे शिव की आंख प्रकट होकर अंगारे बरसाने लगी''। कल्हण के कोशिश की तुलना कांगड़ी में दहकते हुए अंगारों के साथ की जा सकती है जो कभी देखते ही किसी को भस्म कर देती है।'

सेंट पीटर्सबर्ग के शब्द कोष के अनुसार कल्हण ने हस्तिनिका का उल्लेख उस समय किया है जब उसने राजतरंगिणी में महाराजा विक्रमादित्य का वर्णन किया है। लिखते हैं कि यह एक ऐसे राजा हुए हैं जो दहकती कांगड़ी की तरह अंगारे बरसाते थे। कल्हण ने एक अन्य स्थान पर इसी तरह का उल्लेख किया है। संस्कृत विद्वानों ने कांगड़ी को क्या नाम दिया है, उसके साथ मुझे कोई सरोकार नहीं। किन्तु यहां मुझे आपका ध्यान इस बात की ओर खींचना है कि 'हस्तिनिका' शब्द का विकृत रूप कांगड़ी नहीं हो सकता, न ही 'कांगर' शब्द का स्रोत हस्तिनिका है।

कांगड़ी का वर्णन करते हुए आर० एस० पंडित लिखते हैं—'ककशाग्नि' शब्द का अर्थ अरंडी की आग भी हो सकता है। ककशाग्नि का विकृत रूप कांगड़ी भी हो सकता है जिसमें शोलों को भड़का कर कश्मीरी अपने साथ रखते हैं। इसका अर्थ वन की आग या अलाव भी हो सकता है। रघुवंश में भी इसका अर्थ यही दिया गया है। मगर कांगड़ी का इस तरह अर्थ देना युक्ति संगत नहीं। कांगड़ी कश्मीरियों को इतालवियों की देन न हिंटन नोल्ज़ को मान्य है न ही सर वाल्टर लारेंस को। इस संबंध में जिसने भी इस तरह का दावा किया है, ऐतिहासिक दृष्टि से इसके असली अर्थ से दूर का भी संबंध नहीं है।

'कांगड़ी' शब्द की व्युत्पत्ति क्या है—इस ओर हिंटन नोल्ज़ का ध्यान भी गया है। हां, इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो तरह से अनुमान लगाया जा सकता है—

1. कांगड़ी दो शब्दों के योग से बनी है—'कानि' अथवा डाल और 'घर' अथवा बनाने वाला 'कानिघर' का अर्थ है कांगड़ी को बुनने वाला या 'कान्युल' जिसका अर्थ बुनी हुई डाल भी हो सकता है। कश्मीर में किसी भी चीज के नाम को इसके बनाने वाले के नाम से जोड़ दिया जाता है। कांगड़ी मात्र बुनी हुई डालियों और बड़े प्याले के सिवाय कुछ नहीं होती। 'कानिघर' शब्द का छोटा रूप कांगड़ी भी हो सकता है, ठीक उसी तरह, जैसे रंगसाज़ को 'रंगुर' या बंग बेचने वाले को 'बंगुर'।

किन्तु प्रश्न उठता है कि 'कानिघर' शब्द क्या कभी कश्मीरी बोल-चाल में प्रचलित रहा है, किन्तु इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है क्योंकि ऐसे शब्द के गढ़ने की कोई ज़रूरत न रही हो। वजह यह थी कि इसके लिए पहले ही कश्मीरी में 'कान्युल' शब्द का प्रयोग किया जा रहा था।

2. दूसरा और शायद महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि कांगड़ी को किसी अन्य भाषा के शब्द से जोड़ना मात्र भ्रम है। यह शब्द वस्तुत: संस्कृत से आया है। संस्कृत में 'क' नष्ट या छोटा होने का संकेत है। अंगारा जिसको दहकते हुए शोले या कोयला भी कहते हैं। 'अंगारी' का अर्थ वह चलता-फिरता बर्तन भी हो सकता है जिसमें आग हो या का + अंगारा या अंगारी, जिसका अर्थ है दहकती हुए आग का छोटा बर्तन।

डॉ० नोल्ज़ के इस कथन के बावजूद मैं समझता हूँ कि कांगड़ी 'कंग' का विकृत रूप हो सकता है। कश्मीरी लोग 'कंग' मिट्टी के बने प्याला-नुमा उस अग्नि-पात्र को कहते हैं जिसका आकार कद्दू जैसा होता है। 'कंग' को कभी-कभी गरमाई के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है और लोग इसमें दहकते कोयले भर कर रखते हैं। इसी अग्नि-पात्र को कश्मीरी में 'मनन' भी कहते हैं। इसको 'अलाव' भी कहा जाता है। पहले इस तरह के अग्नि-पात्र लेह-लद्दाख में इस्तेमाल किए जाते थे, किन्तु आजकल लद्दाख के दूर-दूर के क्षेत्रों में भी इसका चलन है।

'कंग' मूलत: तिब्बती भाषा का शब्द है। गरमाई देने का अग्नि-पात्र होने के अतिरिक्त वहां 'कंग' उस बुखारी को भी कहते हैं जो दो कमरों के बीच की दीवार के साथ रखी जाती है और धुआं निकलने के लिए नीचे से जगह रखी जाती है। एक मकान में एक 'कंग' के जलने से दो कमरे गर्म रहते हैं। चीनी सीमाओं पर बसने वाले लोगों के चूल्हे के बीच में एक मंडप होता है

जिसको 'कंग' कहते हैं। यह मंडप उसी तरह का होता जैसे आजकल कश्मीर में प्राप्त मिट्टी के चूल्हे बने होते हैं। यहां खाने-पीने के अतिरिक्त एक हमाम भी है जिसके सामने घर के सदस्य बैठ कर तन गर्म करते हैं।

कांगड़ी शब्द 'कंग' से जोड़ना सही है और अनुमान के बिल्कुल अनुकूल लगता है। हो सकता है कि प्रारम्भिक काल में यह मिट्टी की ही बनी हो जो किसी हद तक विश्वसनीय लगता है क्योंकि अब भी इस तरह की कांगड़ी का प्रयोग होता हैं। हां, इसको नर्म डाल से बुन कर प्रयोग में लाना कश्मीरियों का अपना आविष्कार हो सकता है, किन्तु यह 'कंग' की ही दूसरी शक्ल है. जिसको आजकल हम कांगड़ी कहते हैं। □

अनु० अवतार कृष्ण राजदान

वाज़वान

□ 'निशात अन्सारी'

ऐतिहासिक पुस्तकों का अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि मनुष्य को इस धरती पर चरण रखने के उपरान्त तुरन्त जिस वस्तु की आवश्यकता अनुभव हुई होगी वह थी पेट की आग शान्त करने की आवश्यकता। मानव की तीन मूल आवश्यकताओं में से खाने-पीने की आवश्यकता की सम्भावना उसे अपने आस-पास के वातावरण में स्पष्ट रूप से नहीं मिली परन्तु प्रकृति ने उसे सब जीवों से उत्तम बनाया है जिसके कारण मानव ने अपने जीवन के प्रारम्भ के साथ-साथ विवेक से काम लेकर अपने से कम बलवान जीवों को नष्ट करना आरम्भ किया। अपने आरम्भिक काल में यदि मानव अपने पेट की अग्नि को शांत करने के लिये जंगली घास-फूस, सब्जियों, फलों यहां तक कि वृक्षों की छाल को खाने के काम में लाता था, लेकिन वह अभी भी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट न था जिसके कारण वह बाध्य होकर अन्य खाने-पीने की वस्तुओं की खोज में निकला।

वन मानुषों की भांति पर्वतीय गुफाओं, खोखले वृक्षों के कोटरों में जीवन व्यतीत करने वाले प्रारम्भिक-युग के व्यक्ति के विषय में ऐतिहासिक पुस्तकों में इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। वह घने जंगलों, भयानक वीरानों में वृक्षों की छाल के वस्त्र पहन कर जीवन व्यतीत करता था तथा नुकीले पत्थरों, लम्बी-लम्बी तेज़ धार वाली हड्डियों से अस्त्रों का काम लेकर निर्बल पशु-पक्षियों का वध कर उनके मांस को कच्चा ही चटकर जाता था। इस युग का मनुष्य अग्नि के विचार तक से अनभिज्ञ था। अतः वह मांस को कच्चा खाने के लिये बाध्य था। आदिकाल में मानव व पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता।

ईश्वर ने मानव को निर्बल जीवों पर हावी होने की शक्ति प्रदान की है। संसार के अस्तित्व में ही 'सरवाइवल ऑव द् फिटेस्ट' की थ्योरी भी अस्तित्व में आई। वर्तमान युग में भी यह प्रक्रिया परम्परागत चली आ रही है, तथा जब तक यह संसार रहेगा यह प्रक्रिया भी जीवित रहेगी। ड्राउन भी अपने सिद्धान्त में इस बात का पक्ष लेते हैं। मुल्ला जलालुद्दीन रोमी जीवन के इस सत्य से प्रभावित हुये थे उनके कथनानुसार—

'खबक बखशद खाक़ राह लुतुफ़ खुदा।
ता खोरद आब व बरवे द सद गुना॥
बाज ख़ाके राह बबक्शद हलक व लब।
ता गया हश राह खोरद अन्दर तलब॥
चूं गया हश खोरदो गश्त हैवान रफ्त।
गश्त हैवान लोकमा इन्सान् रफ्त्'॥

अर्थात्—इस पृथ्वी पर जिस प्रकार की वनस्पतियां पाई जाती हैं वे पृथ्वी से खाद व अन्य आवश्यक तत्व चूस-चूस कर अपने लिये अन्न उत्पन्न करती हैं। पशु चूंकि वनस्पतियों से बढ़कर हैं अतः वनस्पतियों पर पलते हैं। अपने से कम शक्ति वाले पर हावी होने की प्रक्रिया की छाप मानव बुद्धि पर तभी से पड़ चुकी थी।

मनुष्य ने आदिकाल से पेट की अग्नि को तुष्ट करने के लिये पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली उपज को उगाने में सफलता प्राप्त की। इसी कारण वह पर्वतीय स्थलों, घने जंगलों को त्याग कर मैदानी इलाकों, घाटियों तथा तराइयों में आने लगा उसने नदियों व नहरों के किनारे पर निवास करना आरम्भ किया। तथा शनैः-शनै पृथ्वी से उपज उत्पन्न करने में सफल हुआ। यह प्राकृतिक तथ्य है कि जब मनुष्य ने काफी समय के उपरान्त अपनी प्राथमिक आवश्यकता को तुष्ट करने में सफलता प्राप्त की तो उसे अपने खाने-पीने की वस्तुओं में परिवर्तन लाने की आवश्यकता भी अनुभव हुई। संस्कृति के विकास के साथ-साथ मनुष्य को विभिन्न प्रकार के चटखारेदार व्यंजनों को बनाने का विचार आया होगा तथा तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजनों को तैयार करने के लिये जिस वस्तु का उसे एकदम विचार आया होगा वह था मांस, जिसका प्रयोग वह धरती पर चरण रखते ही कर चुका था। यही मांस उसके अन्न का वह मुख्य अंग था जिसके माध्यम से वह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उस पर निर्भर था, परन्तु मांस को एक ही प्रकार से भून कर खाने से वह ऊब भी गया होगा। उसमें परिवर्तन आवश्यक हो गया। उसने मांस खाने व बनाने के अन्य ढंग खोज निकाले। मनुष्य ने मांस को बर्तनों में, हांडियों में पकाकर खाना आरम्भ किया, जैसा 'कुतुब तवारीख' में व्यक्त किया गया है।



ईश्वर ने मानव को निर्बल जीवों पर हावी होने की शक्ति प्रदान की है। संसार के अस्तित्व में ही 'सरवाइवल ऑव द् फिटैस्ट' की थ्योरी भी अस्तित्व में आई। वर्तमान युग में भी यह प्रक्रिया परम्परागत चली आ रही है, तथा जब तक यह संसार रहेगा यह प्रक्रिया भी जीवित रहेगी। ड्राउन भी अपने सिद्धान्त में इस बात का पक्ष लेते हैं। मुल्ला जलालुद्दीन रोमी जीवन के इस सत्य से प्रभावित हुये थे उनके कथनानुसार—

'खबक बखशद खाक़ राह लुतुफ़ खुदा।
ता खौरद आब व बरवे द सद गुना।।
बाज ख़ाके राह बबक्शद हलक व लब।
ता गया हश राह खौरद अन्दर तलब।।
चूं गया हश खौरदो गश्त हैवान रफ्त।
गश्त हैवान लोकमा इन्सान् रफ्त्'।।

अर्थात्—इस पृथ्वी पर जिस प्रकार की वनस्पतियां पाई जाती हैं वे पृथ्वी से खाद व अन्य आवश्यक तत्व चूस-चूस कर अपने लिये अन्न उत्पन्न करती हैं। पशु चूंकि वनस्पतियों से बढ़कर हैं अतः वनस्पतियों पर पलते हैं। अपने से कम शक्ति वाले पर हावी होने की प्रक्रिया की छाप मानव बुद्धि पर तभी से पड़ चुकी थी।

मनुष्य ने आदिकाल से पेट की अग्नि को तुष्ट करने के लिये पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली उपज को उगाने में सफलता प्राप्त की। इसी कारण वह पर्वतीय स्थलों, घने जंगलों को त्याग कर मैदानी इलाकों, घाटियों तथा तराइयों में आने लगा उसने नदियों व नहरों के किनारे पर निवास करना आरम्भ किया। तथा शनैः-शनै पृथ्वी से उपज उत्पन्न करने में सफल हुआ। यह प्राकृतिक तथ्य है कि जब मनुष्य ने काफी समय के उपरान्त अपनी प्राथमिक आवश्यकता को तुष्ट करने में सफलता प्राप्त की तो उसे अपने खाने-पीने की वस्तुओं में परिवर्तन लाने की आवश्यकता भी अनुभव हुई। संस्कृति के विकास के साथ-साथ मनुष्य को विभिन्न प्रकार के चटखारेदार व्यंजनों को बनाने का विचार आया होगा तथा तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजनों को तैयार करने के लिये जिस वस्तु का उसे एकदम विचार आया होगा वह था मांस, जिसका प्रयोग वह धरती पर चरण रखते ही कर चुका था। यही मांस उसके अन्न का वह मुख्य अंग था जिसके माध्यम से वह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उस पर निर्भर था, परन्तु मांस को एक ही प्रकार से भून कर खाने से वह ऊब भी गया होगा। उसमें परिवर्तन आवश्यक हो गया। उसने मांस खाने व बनाने के अन्य ढंग खोज निकाले। मनुष्य ने मांस को बर्तनों में, हांडियों में पकाकर खाना आरम्भ किया, जैसा 'कुतुब तवारीख' में व्यक्त किया गया है।



वाज़वान : एक दृश्य

मनुष्य चूंकि नवीन परिवर्तनों में रूचि रखता है अतः उसने स्वादिष्ट व्यंजनों को पकाने के लिये नवीन प्रयास भी किये होंगे। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से जो देश केन्द्र माने जाते हैं वे इस क्षेत्र में आगे निकल गये। मध्य ऐशिया के सभी देशों में इस विषय में ईरान को प्रमुखता प्राप्त हुई। तभी ईरानी लोग मांस से भिन्न-भिन्न प्रकार के पकवान तैयार करते हैं। ईरानी खान-पान की इन सभी विशेषताओं को कश्मीर ने पूर्णतया ग्रहण किया। इस्लाम के अस्तित्व में आने के पश्चात् ईरानी संस्कृति का प्रभाव कश्मीर पर किसी न किसी रूप में बहुत अधिक पड़ा। इसी प्रभाव के अन्तर्गत ईरानी संस्कृति ने हमारे यहां लिबास में गुलूबन्द, दस्तार, मोज़ा, फरगल, मोजाबन्द, रूमाल, सीनाबन्द ऐज़ार-कला, ऐज़ारबन्द, अरकचीन, अचकन, शेरवानी, चोगा, ओबा, कोबा, हमामा तोरा, दस्ताना, चीराहत, कमीज, जैरिजामा, नकाब जैसे नये नये वस्त्रों को नाम दिये। आभूषणों में हल्काबन्द, दुसवाना, अंगुश्तरी, पाजेब, बाजूबन्द तथा नगीना। व्यंजनों में बिरियानी, कुल्या, फालूदा, बाकरखानी शोरबा, फीरनी, श्रीमाल, नान, मुथजिन, मुर्गा, पुलाव, रोज़दाह जैसे नाम दिये तथा मांस से तैयार किये जाने वाले व्यंजनों व पकवानों में कबाब, कीमा, रोगनजोश, आबगोश, यूरानी, कोरमा, मुर्ग-मुस्सलम और गोश्ताबा जैसे स्वादिष्ट व्यंजनों की वृद्धि हुई। यदि कई लोगों के कहने के अनुसार (जो ईरान गये हैं) इस प्रकार की ज़ियाफतें अब वहां नहीं पाई जातीं, वह दूसरी बात है, लेकिन कश्मीर के इन पकवानों का मूल स्रोत ईरान ही है।

मांस को विभिन्न प्रकारों से पकाने के लिये बावर्चियों का एक विशेष वर्ग अस्तित्व में आया। जिनको 'वाज़ाह' कहा जाता है जहां तक 'वाज़ाह' शब्द का सम्बन्ध है वह संस्कृत भाषा का 'वाज' शब्द है। संस्कृत के इस तीन अक्षर वाले अर्थात् 'जीम' (ج) को 'बफ़ताह' पढ़ा जाता है तथा बहुत प्रयोग के उपरान्त यह बिगड़ते-बिगड़ते 'वाज़ा' का रूप पा गया। हमारे घरों की स्त्रियां वाज़वान तैयार करने की कला से अनभिज्ञ हैं अतः यहां स्थान-स्थान पर एक ऐसा वर्ग पाया जाने लगा जो मांस से भांति-भांति के सालन-सब्जियां बनाने में कुशल है। ऐसा करने के लिये उन्हें काफी परिश्रम करना पड़ता है। वाज़वान के लिये आम घरों में बने हुये चूल्हे काम नहीं देते बल्कि बावर्चीखाने की चारदीवारी से बाहर खुले स्थान में अथवा घर के बगीचे के एक ओर आग जलाई जाती है और उस पर एक साथ अनेक बर्तन रखकर पकवान तैयार किये जाते हैं। आग जलाने के लिये ईंटों अथवा पत्थरों की लगभग एक फुट ऊंचाई की दो लम्बी सीधी दीवारें बनाई जाती हैं जिसे कश्मीरी में 'वुर' कहा जाता है। इन दो दीवारों के बीच में सूखी लकड़ी के बडे-बड़े कुंदे जलाये जाते हैं। ईंटों व पत्थरों के सहारे एक ही समय दस-बारह देग-देगचे तथा हांडियां उस पर रखी जाती है जिनमें विभिन्न प्रकारों के मुर्गन-सालन तैयार किये जाते हैं। एक ही समय

हज़ारों लोगों के लिये स्वादिष्ट व्यंजन बनाया जाने वाज़ा यह स्थान 'वाज़वान' वस्तुत: 'वाज़ा' तथा 'वान' दो शब्दों का मिश्रण है। 'वान' कश्मीरी में दुकान को कहते हैं। जिस प्रकार एक दुकान में हर दिन की बिकने वाली वस्तुयें भिन्न-भिन्न बर्तनों में काफी स्थान घेरे होती हैं, उसी प्रकार 'वाज़ा' के सामने, दायें-बायें तथा आगे-पीछे तांबे के बर्तन, देग-देगचे तथा पतीलियां इत्यादि बिखरी होती हैं, जिनमें वह सवेरे से शाम तक अथवा शाम से दूसरे दिन दुपहर तक व्यंजनों को पकाता रहता है। 'वाज़वान' पर बहुत सा रुपया-पैसा व्यय होता है। अत: विशेष अवसरों यथा शादी-ब्याह व सामाजिक-सम्मेलनों पर ही इसे बनाया जाता है। समाज के विभिन्न वर्ग इस पर अपनी हैसियत के अनुसार धन व्यय करते है। अर्थात् निम्न आय वाला, मध्यम आय वाला तथा उच्च आय वाला, जो जिस सीमा तक धन सम्पति वाला हो उसी के अनुसार 'वाज़वान' पर धन व्यय करता है। 'वाजवान' के अवसर पर हमारे समाज के सम्पन्न लोग अपने घरों को अलंकृत करते हैं तथा एक दूसरे से सम्पन्नतर कहलाये जाने की होड़ में मनों के हिसाब से मांस पकवाते हैं। मांस के व्यंजन पकाये जाने के लिये आमतौर पर बकरों व भेड़ों का मांस ही प्रयोग में लाया जाता है। ये भेड़ें व बकरियां एक साल से कम आयु के होते हैं तथा जितने भी पकवान बनाने की आवश्यकता हो उसके लिये बकरे तथा भेड़ों के विशिष्ट अंगों का प्रयोग किया जाता है। ऐसा करने में 'वाज़ा' को बड़ी समझदारी से काम लेना पड़ता है। कसाई बकरों या भेड़ों को काटता है तथा वही मांस बिना तोले 'वाज़ा' के पास ले जाया जाता है। 'वाज़ा' बड़ी समझ से मांस की बोटियां भिन्न-भिन्न अंगों से भिन्न-भिन्न व्यंजनों के लिये अलग-अलग रखता है तथा बर्तनों में डालता जाता है। यह मांस जितना ताजा हो उसी हिसाब में व्यंजन भी अच्छे बनते हैं। बासी मांस से ज़ायकादार व्यंजन नहीं बन पाते जिस प्रकार 'वाज़ा' भेड़-बकरियों के भिन्न-भिन्न अंगों से मांस काट कर पकवान बनाता है तथा एक पकवान को किन-किन स्थितियों से गुज़रना पड़ता है उसका थोड़ा विवरण यहां देना उपयुक्त होगा।

कबाब—यह दो प्रकार से बनाये जाते हैं शामी कबाब व सीख कबाब। परन्तु विवाह के अवसरों पर जो कबाब बनाया जाता है वह सीख कबाब ही होता है, जिसके लिये बकरे और भेड़ों की रान अथवा कंधे के अंगों से काटा हुआ बिना चर्बी का मांस प्रयोग में लाया जाता है। कबाब बनाने के लिये एक विशेष गोल लकड़ी के तख्ते पर बड़े से कसाई-चाकू से टुकड़े-टुकड़े किया जाता है। इसी समय मांस में हरी इलायची, सौंफ, इलायची कलान सौंठ, ज़ीरा ऐसे मसाले मिलाये जाते हैं तथा इस मांस में चिकनाई लाने के लिये अंडे मिलाये जाते हैं। ऐसा करने से मांस सीख पर खुद-ब-खुद चिपक जाता है तथा कबाब लगे सीख को

अंगारों पर सेंका जाता है। भूने जाने के बाद घी, डालडा या तेल में इसे खूब तला जाता है, तलने के उपरान्त चावलों से भरी परात[1] को विभिन्न व्यंजनों से सजाकर सभा में लाया जाता है। खाने वाले सर्वप्रथम कबाब के ही चटखारे लेते हैं।

तबकमाज—यह भी वाज़वान की अनोखी ज़ियाफत मानी जाती हैं। इसके लिये भेड़ों की पसलियों का मांस हड्डियों के समेत प्रयोग में लाया जाता है। सबसे पहले भेड़ों की साबुत पसलियों को किसी बड़े बर्तन में खूब उबाला जाता है, थोड़ी सी हल्दी डाली जाती है। उबालने के उपरान्त चाकू से इन पसलियों के टुकड़े किये जाते हैं जिनमें तलने से अच्छी तरह घी भूरा हो जाता है जब मांस का रंग भूरा तथा हड्डियों का रंग कुछ काला हो जाता है तब तैयार होने के बाद इस पर 'चांदी वरक' की परत चढ़ाई जाती है। इसे भी प्लेट या परात में सजाया जाता है। गर्म-गर्म खाने से इसका पूरा स्वाद लिया जा सकता है।

रिस्ता—इसके लिये भी बकरे या भेड़ के कंधे अथवा रान का मांस प्रयोग में लाया जाता है। कबाब के मांस की भांति इसे लकड़ी के गोल तख्ते पर कूटने की बजाय चौकोर पत्थर की सिल पर रखकर लकड़ी के हथौड़े से कूटा जाता है। साथ-साथ इसमें मसालों के अतिरिक्त चर्बी भी मिलाई जाती है, कूटने के समय इसमें से सख्त रेशों को निकाल दिया जाता है। रिस्ता के लिये प्रयोग में लाये जाने वाले मांस को पत्थर की सिल पर तब तक कूटा जाता हैं कि चर्बी की मिलावट से इसका रंग सफेदी मायल (हल्का प्याज़ी) हो जाये। जब रिस्ते का मांस पूर्ण रूप से तैयार हो जाता है तो 'वाज़ा' इसे छोटे-छोटे पेड़ों की शक्ल देकर आग पर रखी हुई देग में डालता जाता है फिर उन्हें खूब उबाला जाता है। आज से वर्ष पूर्व रिस्ते के लिये मांस को लकड़ी की बड़ी ओखली में मूसल से कूटा जाता था परन्तु जब से तराशी हुई पत्थर की सिलों का चलन शुरू हुआ तब से ओखली वाला रिवाज समाप्त हो गया।

आबगोश—बाज़वान में सबसे अधिक स्वादिष्ट व्यंजन आबगोश समझा जाता है। इसके बनाने के लिये बकरे अथवा भेड़ें के कंधे या पुश्त के अन्तिम भाग का मांस प्रयोग में लाया जाता है। सर्वप्रथम मांस को उबाला फिर उबले हुये मांस को दूध में डालकर खूब पकाया जाता है, और आग पर उस समय तक बराबर रखा जाता है जब तक उसका दूधिया शोरबा गाढ़ा न हो जाये। इसमें अधिकतर हरी इलायची दालचीनी तथा इलायची कलान डाली जाती है। हल्दी का इसमें प्रयोग नहीं होता। इस पकवान का शोरबा लोग बहुत पसन्द करते हैं।

---

1. तांबे की बड़ी प्लेट जिसमें चार व्यक्ति एक साथ ही मिलकर खाना खाते हैं।

रोजनजोश—यूं तो भेड़ के हर अंग का मांस रोगनजोश के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है परन्तु इसके लिये कमर के भाग का मांस ही उचित रहता है। इस व्यंजन की बोटियां अन्य पकवानों के मुकाबले में कुछ बड़ी होती हैं। इसमें घी कुछ अधिक ही डाला जाता है, तथा सारे मसाले भी डाले जाते हैं बिल्कुल लाल रंग बनाने के लिये इसमें केसर के रेशे तथा 'ताज खुरूस' (एक लाल फूल) जिसे 'कलगा' कहते हैं डाला जाता है जो रोगनजोश को और लाल करने में सहायक होता है। इसका शोरबा बहुत स्वादिष्ट होता है।

हिन्दी रोगनजोश—भेड़ों के सीने और पसलियों के मांस से हिन्दी रोगनजोश बनाया जाता है इसमें 'ताज खुरूस' (कलगा) के गाढ़े रस को मिलाया जाता है तथा खटास उत्पन्न करने के लिये दही का प्रयोग किया जाता है।

दानिवल कोरमा--इस व्यंजन में बकरे अथवा भेड़ की छाती के मांस का प्रयोग उचित समझा जाता है। तैयार होने के उपरान्त इसमें मीठा दही तथा खुशबू के लिये हरा धनिया काट कर डाला जाता है।

इस नवीन प्रकार के व्यंजन में काम आने वाला मांस बकरे अथवा भेड़ के कंधे या रान के निचले भाग से चुनकर पकाया जाता है, तथा कबाब व तबक माज़ के साथ ही त्रामी पर सजाया जाता है।

मर्चवांगन कोरमा—कोरमा के लिये भेड़ अथवा बकरे के हर एक भाग से मांस की छोटी-छोटी बोटियां चुनी जाती हैं। मांस का विशेष भाग चुना जाता है जहां हड्डियां करकुरी (चबाने वाली नरम हड्डी) प्रकार की हो। अन्य मसालों से मिर्च का कुछ अधिक ही प्रयोग होता है अत: दही का प्रयोग इसमें आवश्यक समझा जाता है।

तारख माज़—वाज़वान में इस नवीन व्यंजन का नया-नया ही आविष्कार हुआ है इसमें भेड़ अथवा बकरे के कंधे के निचले भाग के मांस को चुना जाता है।

मेथि माज़—यह व्यंजन सुखाई हुई मेथी व बकरे अथवा भेड़ के मेदे से तैयार किया जाता है। मेदे को पहले उबाला जाता है रेशों की तहों को हटाकर साफ कर दिया जाता है। फिर चाकू से लकड़ी के तख्ते पर बोटी-बोटी कर दिया जाता है तथा तलकर पकाया जाता है।

गोश्ताबा—यदि गोश्ताबा को वाज़वान में वाज़ा की उपलब्धि भी कहें तो अनुचित न होगा। इसमें बकरे अथवा भेड़ के कंधे तथा रान का नरम भाग चुना जाता है फिर इस मांस को लकड़ी के तख्ते पर लकड़ी के हथौड़े से बहुत ही महीन कूटा जाता है तथा कुछ अनुपात में चर्बी भी मिलाई जाती है जिससे इसमें चिकनाई उत्पन्न हो जाती है बराबर कूटते-कूटते इसका रंग हल्का प्याज़ी हो जाता है तो 'वाज़ा' इसके बड़े-बड़े गोल पेड़े बनाता है। आग पर रखी

देगची में दही को खूब उबाला जाता हैं। उबलते दही में इन पेड़ों को डाला जाता है तथा जब इसका शोरवा गाढ़ा हो जाता है तो इन गोल पेड़ों का 'साईज़' फूल कर दुगने से भी अधिक हो जाता है। इसकी खुशबू से रूह ताज़ा हो जाती है। गोश्ताबा जितना बड़ा हो उतनी ही वाज़ा की कला की वाह-वाही भी होती है। हर किसी के मुँह में पानी आ जाता है। किसी के गुस्से को गोश्ताबा ही पानी कर देता है।

एक समय 'वाज़वान' में मांस की एक दो सब्ज़ियों तथा दो चार चटनियां शामिल थीं लेकिन अब विभिन्न प्रकार के और पकवान भी इसमें जुड़ गये हैं उदाहरण के लिये ज़िरिश कोरमा (मांस की वह सब्जी जिसमें ज़ीरा प्रयोग में लाया जाता है) किशमिश कोरमा (मांस का वह व्यंजन जिसमें किशमिश का प्रयोग किया जाता है) पाम्पोश ठूल (अंडे उबाल कर कमल के फूल की शक्ल का बनाया जाना) तारक ठूल (इसमें अंडे को तारे की शक्ल का बनाया जाता है)।

इन सभी पकवानों के अतिरिक्त भांति-भांति की चटनियां भी वाज़वान का अभिन्न अंग हैं। इनमें बादाम चटनी, जीरा ज़रशक चटनी, अखरोट की गिरियों की चटनी, काजू चटनी तथा हरी मिर्चों की चटनी प्रशंसा के योग्य चटनियां हैं। शामी कबाब, मछली कबाब, पनीर तथा गुच्छियों आदि के पकवानों से वाज़ा ने अपना लोहा मनवा लिया है। इसके अतिरिक्त मुर्ग मुस्सलम वाज़वान की शान को दुगुना कर देता है। फीरनी अथवा हलवा भी वाज़वान के अन्तर्गत आता है।

वाज़वान चूंकि इस्लामी संस्कृति व सभ्यता का एक उदाहरण है अत: इसका चलन अधिकतर मुसलमान घरानों में ही होता है। विवाह-अवसरों, मजलिसों, 'कन्वेन्शनों' ईद के अवसर तथा दोस्तों के मेल-मिलाप के अवसरों पर वाज़वान का लुत्फ लिया जाता हैं। अतिथियों के सामने इसे त्रामी (बड़ी सी परात) में प्रस्तुत किया जाता है। त्रामी पर वाज़वान के जो व्यंजन सजाये जाते हैं वे हैं—कबाब, तबक माज़, मीथ्य माज दबिफोल नाट और मुर्गमुस्सलम आदि। अतिथियों के सामने वाज़ा बड़ी तहज़ीब से साफ-सुथरी कलईदार देगची लाता है तथा बड़े कलात्मक ढंग से प्लेटों में व्यंजन डाल-डाल कर उनकी सेवा करता है। सबसे पहले रिस्ता फिर रोगनजोश फिर दानिवल कोरमा, आबगोश, मर्चवांगुन कोरमा तथा अन्त में गोश्ताबा परोसा जाता है। अतिथि स्वयं समझ जाते हैं कि इसके बाद अब कोई व्यंजन नहीं आयेगा गोश्ताबा वाज़वान की चरमसीमा है। त्रामी के साथ मिट्टी के छोटे गोल बर्तन में दही सजाया जाता है। अतिथि अपनी रुचि के अनुसार हर व्यंजन का मज़ा लेते हैं। आज कश्मीरी वाज़वान की चर्चा संसार भर में हो रही है, तथा कश्मीर या भारत में ही नहीं अपितु विदेशी भी इसे रुचि से खाते हैं। वाज़वान ने आज हर कहीं अपनी छाप छोड़ रखी है।

□ अनु० डा० नीता बाम्ज़ई

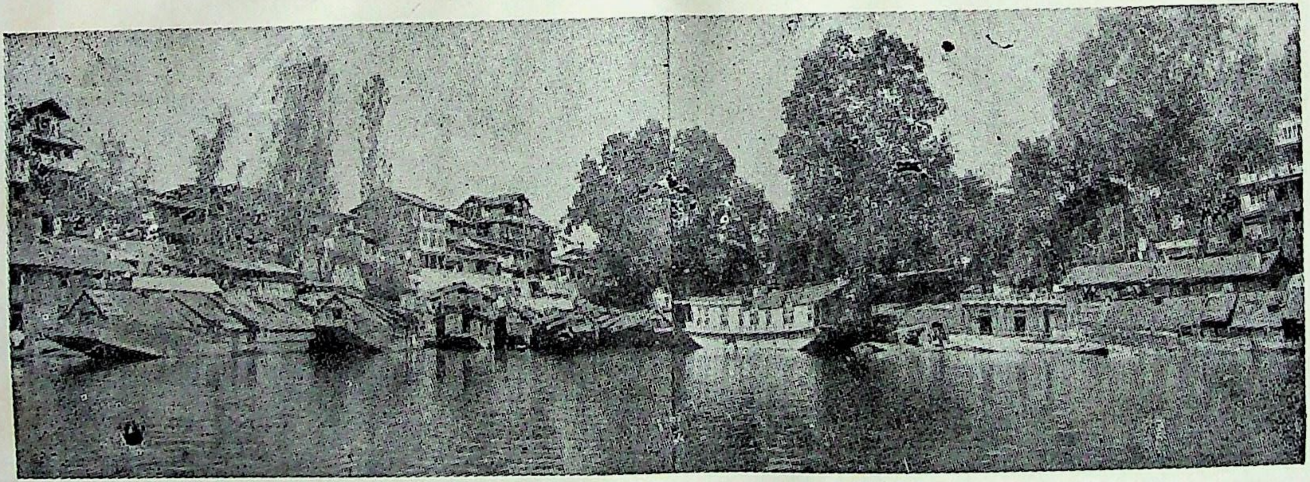
जलीय आवास

☐ निशात अन्सारी

इस से पूर्व कि जलीय आवास के इतिहास, स्वरूप, आकार-प्रकार तथा इसके विकास के विषय में कुछ कहा जाए, उचित होगा कि पहले यह देख लें कि स्वयं जलीय आवास के निर्माण का आरम्भ कहां से हुआ। इस विषय में इस प्राचीन कथा को ध्यान में रखना इस गुत्थी को सुलझाने में किंचित् सहायक हो सकता है।

नील मत पुराण के अनुसार सृष्टि के स्रष्टा ने जब जल समूह को प्रथम बार बनाया तो हज़ारों वर्ष बीत जाने के बाद धरती पर मानव जीवन का सृजन किया। इस सृजन-प्रक्रिया के सहस्रों वर्षों के ठहराव के बाद इस सृष्टि के स्रष्टा ने अपनी ही बनाई हुई उस पहली दुनिया और उसमें रहने वाली मानव जाति को मिटा कर रख दिया। सहस्रों वर्ष बीत जाने के बाद स्रष्टा ने संसार का दूसरी बार सृजन किया और इस बीच हज़ारों वर्षों तक इसे मानव जीवन के बिना ही रखना पसन्द किया। तदनन्तर और सहस्रों वर्षों के उपरान्त उसने फिर से मानव जीवन का सृजन किया। परन्तु फिर सहस्रों वर्ष बीत जाने के बाद उसने दूसरी बार इस संसार और इस में रहने वाले सभी मनुष्यों एवं अन्य सभी प्राणियों को मिटाकर अस्तित्वहीन बना डाला।

इस प्रकार सृजन और संहार की यह प्रक्रिया बराबर छः बार दोहराई गई और सातवीं बार जब हमारे इस नश्वर जगत को परमेश्वर ने प्रकट किया तो उसके सहस्रों वर्ष बीत जाने के बाद यहां जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। और इस भू-मण्डल पर संसार के अन्य क्षेत्रों की भांति कश्मीर भूमि को अस्तित्व में लाने की भी प्रक्रिया शुरू हुई। लेकिन शुरू-शुरू में इस भू-मण्डल पर जीवन के चिह्न कहीं नहीं थे। चतुर्दिक जलमय सृष्टि दृष्टिगत होती थी। नीलमत पुराण में लिखी इस कथा के अनुसार सातवीं बार भगवान शिव ने एक छोटी-सी नौका में सवार होकर मनु का रूप धारण कर के कश्मीर के उस सुविस्तृत



जलीय आवासों में तैरता-बसता कश्मीरी जन-जीवन

[illegible]

सरोवर में बीजारोपण किया, जिसे सतीसर कहा जा सकता है। और फिर जब जल सूख गया तो मानव जीवन के चिह्न पनपने आरम्भ हुए। इस प्रकार यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जब कश्मीर सतीसर के रूप में प्रकट हुआ था तो उस युग में यहां नौका का अस्तित्व अवश्य था। तब से अब तक कितना समय बीत चुका है, इस के बारे में सुनिश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये बातें प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रखती हैं। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नौका के निर्माण का इतिहास कश्मीर में उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं कश्मीर।

जहां तक इस्लाम के इतिहास और विशेष रूप से क़ुराने हकीम के पवित्र सूराओं, (अध्यायों) विशेष रूप से सूरा नूह और हूद[1] का सम्बन्ध है, संसार में उस नौका का निर्माण उस समय हुआ जब आदमे सानी (द्वितीय आदम) हज़रत नूह अलै इस्लाम पैगम्बर (परमेश्वर के दूत) प्रमाणित हो चुके थे। हजरत नूह कब पैदा हुए और किस युग में हुए, इस बारे में इस्लामी ग्रंथों में लिखा है कि नूह हज़रत आदम अलै इस्लाका की मृत्यु से एक सौ बीस वर्ष बाद पैदा हुए और आदम के बाद वे ग्यारहवें पैगम्बर थे। हज़रत नूह ने संसार में दो हज़ार वर्ष की आयु प्राप्त की। इसमें से उन्होंने आठ सौ पचास पैगम्बरी से पूर्व और नौ सौ पचास वर्ष पैगम्बरी प्राप्त करने के बाद शिक्षा, उपदेश तथा आदेश देने में व्यतीत किए तथा बीच के दो सौ वर्ष नौका का निर्माण करने में बिताए। पैगम्बरी की उपाधि प्राप्त करने के बाद के दूसरे भाग की आयु में अर्थात् नूह के तूफान के पश्चात् वे पांच सौ वर्षों तक जीवित रहे। यह समय उन्होंने नगर आबाद करने तथा लोगों के पुनर्वास के काम में गुजारा।[2]

साढ़े नौ सौ वर्षों तक अपने अनुयायियों का निरन्तर पालन-पोषण करते रहने के बावजूद हज़रत नूह को उन मूर्खों के हाथों ऐसे कष्ट, यातनाएं एवं दुःख उठाने पड़े जिनका शब्दों में वर्णन करना कठिन है। जब आप लोगों को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते तो उनके अनुयायी उन्हें इस प्रकार यातनाएं देते थे कि आप मूर्छित हो जाया करते थे। कभी-कभी तो आप अपने अनुयायियों द्वारा किए जाने वाले पथराव के कारण पत्थरों के नीचे दब कर रह ज़ाते थे।

जब नये हज़रत नूह 900 वर्ष बीत जाने के बाद भी अपने (मूर्ख) अनुयायियों को सन्मार्ग पर लाने में असमर्थ रहे तो वे निराश हो गए। तब उन्होंने

---

1. क़ुरान की व्याख्या—लेखक मौलाना हाफिज़ सैय्यद फ़रमान अली अध्यक्ष तथा प्राध्यापक मदर्सा सुलतानिया पटना।

2. परमेश्वर की वाणी (क़ुरान) की व्याख्या—लेखक मौलाना हाफ़िज़ सैय्यद फरमान अली अध्यक्ष मदर्सा सुलतानिया पटना।

उन (अनुयायियों) के सर्वनाश के लिए शाप दिया, जिस के परिणामस्वरूप सभी औरतें बांझ हो गईं, चौपाए मर गए, वन-उपवन जल कर राख का ढेर बन गए। चालीस वर्ष तक आकाश से एक बूंद भी पानी नहीं बरसा। परन्तु इस आपदा और दैवी प्रकोप के बावजूद भी उनके अनुयायी, यहां तक कि उनका अपना ही एक बेटा कनयान तथा उसकी धर्मपत्नी दाखला भी, न तो उन पर और न ही उनके खुदा पर ईमान ला सके (ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर सके)। और तब नूह को खुदा की ओर से एक नौका बनाने का आदेश मिला। किन्तु उनके मन में नौका बनाने की कोई रूपरेखा नहीं थी। किन्तु खुदाई (ईश्वरीय) शक्ति से फ़रिश्तों ने नूह को नौका बनाने की परिकल्पना प्रदान कर दी। तदुपरान्त उन्होंने अपने अनुयायियों के विनाश तथा अपने पक्षधर साथियों की सुरक्षा के लिए बलूत की लकड़ी से बारह सौ गज़ लम्बी, आठ सौ फुट चौड़ी और अस्सी गज ऊंची एक नौका बनाई। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हज़रत नूह को इस नौका का निर्माण करने में दो सौ वर्ष लगे। इस नौका की तीन मंजिलें थीं। निचली मंजिल चौपायों के लिए थी। दूसरी हर प्रकार के उड़ने वाले पक्षियों के लिए, तीसरी मंजिल उनके अपने पक्षधर साथियों तथा अपने परिवार के सदस्यों के लिए थी।

जिस समय हज़रत नूह की वह नौका बन कर तैयार हुई तो उसमें उनके बहत्तर पक्षधरों के अतिरिक्त उनके तीन बेटे हाम, साम और याफ़श, उनकी तीन पत्नियां, उनकी अपनी पत्नी तथा वह स्वयं सवार हुए। ज्यों ही वे अस्सी लोग उस नौका में बैठे तो येक सुराख से सहसा जोर से जल का एक प्रबल प्रवाह फूट पड़ा तथा आकाश से मूसलाधार वृष्टि होने लगी और लगातार छाजों पानी बरसा। उस समय भी नूह लोगों को अपने साथ सहमत होने के लिए पुकारते रहे। कहते हैं ईराक देश के कोफ़ा में, जहां पर आज कोफ़ा मस्जिद स्थित है, इस नौका के निर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ था तथा उसी स्थान से तूफ़ान[1] (प्रलय) भी आरम्भ हुआ। बाढ़ का पानी ज्यों-ज्यों चढ़ता गया, नूह की नौका पानी पर तैरती रही और अन्ततः जोदी पर्वत के शिखर के साथ जा लगी। यह जोदी पर्वत रूस के आरमीनिया वाले क्षेत्र में अरादात पर्वत का एक तुंग शिखर है। आज से दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें लिखा था कि यूरोप के एक सर्वेक्षण दल ने जोदी पर्वत पर नूह की उस नौका के कुछ अवशिष्ट खण्ड प्राप्त कर लिए जो बाद में, जांच-पड़ताल के बाद, ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखे गये।

नूह के उस तूफ़ान से सारे प्राणी जल की नरकेतर अग्नि में जा पहुंचे। तूफ़ान थम जाने के बाद नूह ने जोदी पर्वत के आंचल में एक छोटी-सी बस्ती

---

1. सूरा हूद

आबाद की और वहीं निवास करने लगे। इस बस्ती का नाम सूक़ अरशमानीन अर्थात् अस्सी आदमियों का बाज़ार रखा गया। परमेश्वर की लीला देखिए कि कुछ अन्तराल के बाद ही वहां पर ऐसी महामारी फूट पड़ी कि हज़रत नूह के सब पक्षधर साथी कालकवलित हो गए। उनमें से केवल उनके तीन पुत्र हाम, साम, याफ़त उनकी तीन पत्नियां, उनकी अपनी धर्मपत्नी और स्वयं नूह ही जीवित बचे। नूह ही की सन्तान में से आगे चल कर, मानव जीवन का क्रम आगे बढ़ा। इसी कारण नूह को 'आदमे सानी' अर्थात् द्वितीय आदम कहते हैं। कहा जाता है कि हब्शी नूह ही के बेटे हाम की सन्तान हैं।

हज़रत नूह का यह प्रलयंकारी तूफान 3335 वर्ष ईस्वी पूर्व और तूरात (यहूदियों के धर्मग्रन्थ) की आकाशवाणी से 600 वर्ष पूर्व[1] आया था। इस अवधि में यदि वे 500 वर्ष भी जोड़ दिए जाएं तो नूह ने ईश्वरीय आदेश से[2] नौका के निर्माण कार्य तथा प्रलय के जल प्लावन के बाद संसार में जीवित रह कर बिताए थे, तो फिर नौका निर्माण का प्रारम्भ नूह के हाथों आज से 3836 वर्ष ईस्वी पूर्व माना जाएगा। सम्भव है यह उसी युग के आस-पास ही का समय रहा होगा जब कि नीलमत पुराण के अनुसार भगवान् शिव ने सतीसर के जल-स्तर पर नौका पर बैठ कर बीजारोपण का कार्य आरम्भ किया था।

अब यह देखते हैं कि हमारे कश्मीरी जलीय आवासों का प्रारम्भ और इसका निर्माण कार्य कब और किस युग में शुरू हुआ। क्योंकि जलीय आवासों की परम्परा अन्य देशों की अपेक्षा सर्वप्रथम कश्मीर में ही देखने को मिलती है। इस सन्दर्भ में 'दि वैली ऑफ कश्मीर' के लेखक सर वाल्टर आर लारैन्स इस पेशे से जुड़े हुए लोगों के यहां पर आने और बस जाने के विषय में इस प्रकार लिखते हैं :—

"It is impossible to obtain any information as to their origin but the profession is very ancient and history affirms that Raja Parbat Sen introduced boatmen from Singhaldwip."[3]

"यह कहना किंचित् कठिन है कि जलीय आवासों से सम्बन्ध रखने वाला स्रोत और मूल क्या है? किन्तु यह व्यवसाय अत्यन्त पुरातन है तथा इतिहास इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि राजा पर्वत सेन[4] (राजा प्रवर सेन) ने यहां पर पहले पहल मांझियों को सिंहल द्वीप से लाकर बसाया था।"

---

1. लुग़ात फिरोज़ी—1933 में प्रकाशित
2. सूरा हूद
3. The Valley of Kashmir—Page 313.
4. वास्तव में यह राजा प्रवर सेन है न कि पर्वत सेन।

राजा प्रवर सेन 135 विक्रमी सम्वत् में कश्मीर का शासक था। सर वाल्टर लारैन्स के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कश्मीर में मांझी व्यवसाय का उद्भव एक हजार नौ सौ आठ (1908) वर्ष पूर्व हुआ था। लारैंस का यह कथन कुछ सीमा तक ठीक भी हो सकता है क्योंकि अगर ये लोग अन्य लोगों की भांति, राजा प्रवर सेन के शासन काल में, इसी भू-खण्ड के निवासी होते तो उनके भी इसी तरह के अपने मकान होते जिस तरह कि शेष कश्मीरियों के। सिंहल द्वीप से यहां पहुंच कर उनके निजी मकान तो थे नहीं, इसलिए ये लोग नौकाएं बना कर यहां की बड़ी-बड़ी झीलों, नदी नालों और विशेष रूप से जेहलम नदी के दोनों तटों पर अपनी नौकाओं के लंगर डाल कर प्राचीन काल से ही जीवन-यापन करते चले आ रहे हैं।

चूंकि हम उस युग की बात कर रहे हैं, जब कश्मीर में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने के लिए आज कल की भांति न तो रास्ते थे और न ही सड़कें, इसीलिए यातायात का एक-मात्र महत्वपूर्ण साधन नदी परिवहन ही था। दूसरी विशेष बात यह है कि जलीय आवासों के निर्माण के लिए प्राचीन काल से विशुद्ध लकड़ी को ही आधार बनाया जाता रहा है तथा ये किसी अन्य पदार्थ से निर्मित नहीं किये जा सकते। सदाबहार सघन वनों के कारण यहां पर प्रकृति की कृपा से लकड़ी सदैव उपलब्ध रही है। इसके फलस्वरूप तथा अन्य साधनों के उपलब्ध रहने के कारण यहां पर मांझियों को जलीय आवासों के निर्माण में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा होगा। प्रश्न उठता है कि शुरू-शुरू के दिनों में इन जलीय आवासों की बनावट, उनका आकार-प्रकार किस प्रकार का रहा होगा? इस विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रारम्भिक काल में, जहां जलीय आवासों का निर्माण जीवन की सुरक्षा के उद्देश्य किया गया होगा, वहां दैनिक आवश्यकताओं का सामान तथा अन्य जरूरी चीज़ों को ढोने के लिए और एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए भी किया जा चुका होगा। इसी कारण इसका प्रारम्भिक नाम 'लिरि नाव' (Leri Nav) जल पर तैरने वाला मकान रखा गया।

समय गुज़रने के साथ-साथ लिर नाव ने भी अपनी विकास यात्रा के दौरान कई महत्वपूर्ण परिवर्तन देखे तथा विभिन्न आकारों और नामों से यह हमारे सामने आई। इन नामों में बहट्ज़ (BAHATS), डूंगा (DUNGA), खोच (KOUCH) और हाऊस बोट (HOUSE BOAT) जैसे कुछ नाम उल्लेखनीय हैं। वार (WAR), ज़ाका वार (TSAKAWAR), शिकारा (SHIKARA), डेम्ब् नाव (DEMBNAV) और परिन्दा (PARINDA) नौकाओं की हल्की फुल्की किस्मों में से कुछ विशेष किस्म की नौकाएं हैं। ये सभी नौकाएं अरबी व फारसी वर्णमाला के वे अक्षर के आकार की होती हैं। अर्थात् नौका के दोनों सिरे जल के स्तर से लगभग तीन फुट तथा कभी-कभी पांच फुट तक ऊपर की

ओर उठे हुए होते हैं। इस बात का ध्यान इसके निर्माण के समय रखा जाता है, ताकि नौका पानी के तल पर अपना सन्तुलन बनाए रख सके तथा इसे खींचते अथवा खेते समय इसका दुम्बाला (Stern अथवा पृष्ठ भाग) जल प्रवाह के वेग का पूरी तरह से सामना कर सके और अपने साथ आने वाले पानी के रेले की शक्ति को कमज़ोर बना कर, उसे दो भागों में काटते हुए आगे की ओर बढ़ सके। नौका के सपाट और चपटे पेंदे में से कम से कम आधा फुट तथा सामान ढोते समय एक फुट तक का भाग जलमग्न रहता है। फिर भी इसका अग्रभाग और पृष्ठ भाग सदैव जल स्तर से बहुत ऊंचा रहता है। यह वैज्ञानिक तकनीक इसके निर्माण-कौशल पर ही निर्भर है। किन्तु दूसरी ओर, छोटी एवं हल्की नौकाओं के अग्र और पृष्ठ भागों के सिरे जल स्तर से चार पांच इंच तक ऊपर की ओर उठे हुए रहते हैं।

कश्मीर के इन जलीय आवासों के निर्माण में केवल बढ़िया किस्म के देवदार की लकड़ी ही प्रयुक्त होती है। इसका कारण यह है कि साधारण लकड़ी पानी के भीतर पड़ी रहने कारण जर्जर हो जाती है। किन्तु देवदार की लकड़ी में यह विशेषता है कि बरसों पानी के भीतर रहने पर भी यह अपने वास्तविक स्वरूप का परित्याग नहीं करती। यदि कुछ पुरानी भी पड़ जाये तो भी साठ-सत्तर वर्षों तक जर्जर होने से बनी रहती है। यही कारण है कि नौकाएं बनाने के लिये देवदार की लकड़ी की असाधारण रूप से चौड़ी पट्टियां तथा कड़ियां प्रयोग में लाई जाती हैं। नौकाओं के लिये विशेष प्रकार की देवदार की विशेष माप की पट्टियों व कड़ियों का मूल्य देवदार की साधारण माप की इमारती लकड़ी की तुलना में बहुत अधिक होता है क्योंकि ये पट्टियां देवदार के पेड़ों के भीतरी गूदे की लकड़ी से प्राप्त की जाती हैं। इन पट्टियों में गुठली अथवा गांठ आदि नहीं होनी चाहिये।

ललयानो अथवा किश्तियों के निर्माण में साधारण बढ़ई भी काम नहीं आते। बढ़ईयों का एक विशेष वर्ग है जो नौका-निर्माण में प्रवीण होता है। प्रायः देखने में आया है कि इस प्रकार के कुशल कारीगर मांझियों अथवा हाजियों के वर्ग से ही संबंध रखते हैं।[1] नौका की मोटी-मोटी और चौड़ी पट्टियों को आपस में जोड़ने के लिये देसी (स्थानीय) ढंग की स्थानीय तौर पर बनाई गई कीलों (वांगने) का ही प्रयोग किया जाता है। पट्टियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि दरारों से जल या नमी नौका के भीतर प्रवेश न कर पाए। लेकिन फिर भी दलदली भूमि से एक

---

1. एक अंग्रेज पर्यटक यंग हस्बंड का कहना है कि कश्मीर के बढ़ई और कारीगर कुशल एवं चतुर हैं। तैंदल बिस्को का कहना है कि कश्मीरी अपनी विशिष्ट कला से नौकाएं बनाने की कुशलता रखते हैं।

विशेष प्रकार के 'खोरदू' नामक पौधों के कोमल और मुलायम रेशों को बड़ी कुशलता के साथ छेनी के द्वारा पट्टियों के बीच के जोड़ों में इस प्रकार भरा जाता है कि इन दरारों से वायु भी भीतर प्रविष्ट नही हो सकती। यह काम नौका निर्माण की कला में बहुत धैर्य से किया जाने वाला काम समझा जाता है।

भारी-भरकम नौकाओं को, चाहे वे छतों वाली हों अथवा बिना छत की, खेने के लिये लम्बे-लम्बे चप्पुओं से काम लिया जाता है तथा सर्वोत्तम बल्ली वही समझी जाती है जो अत्यन्त छोटी आयु वाले देवदार के पतले तने को साफ़ कर के बनाई गई हो। ऐसी बल्ली पूरे पेड़ से एक ही निकलती है। इस का मूल्य अधिक तो अवश्य होता है परन्तु यह बहुत दिनों तक चलती है। चप्पू सनोबर अथवा कैल के पेड़ों की लकड़ी के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की लकड़ी से भी बनाए जाते हैं। यही वह मांझियों का उपकरण है जिस के द्वारा वे नौका को पानी के तल पर वांछित दिशा में ले जाने में समर्थ होते है। अर्थात चप्पू नौका में वही काम करता है जो मोटर या बस के लिये स्टीयरिंग। बल्ली की शक्ति से नौका को आगे बढ़ाया जाता है। इसके अतिरिक्त जल के तीव्र वेग की सूरत में नौका विपरीत दिशा में ले जाने पर लम्बी-लम्बी सीखों (डांडों) से भी काम लिया जाता है। इन्हें दो-दो तीन-तीन स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट मांझी आगे से खीचते रहते है। लघु नौकाओं को चलाने के लिये प्रायः चप्पू ही से काम लिया जाता है। किन्तु जल स्तर कम हो जाने पर बल्लियों को ही काम में लाया जाता है।

जहां तक बहज़ (BAHATS) की आवास संबंधी आवश्यकताओं तथा छतों का संबंध है, इस के पिछले भाग में छोटे-छोटे दो कमरे होते हैं जिन में मांझी तथा उसका छोटा सा परिवार जीवन-यापन करता है। इसी भाग में एक कोने पर भोजन बनाने के लिये मिट्टी का एक चूल्हा भी होता है और इस खण्ड पर घास अथवा नरकुल की बनी हुई एक स्थायी छत भी होती है। मध्य भाग को अनाज अथवा अन्य खाद्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने के काम में लाया जाता है। इस खण्ड के ऊपर भी 'उठाव' किस्म की चटाईयों से निर्मित एक अस्थायी छत रहती है जो वर्षा एवं हिमपात के दिनों में अनाज तथा अन्य वस्तुओं को खराब होने से सुरक्षित रखती हैं। आवश्यकता पड़ने पर बहज़ के इस भाग को हटा भी दिया जाता है। यह इतनी भारी होती है कि इसमें आठ सौ से एक हजार मन तक का भार उठाया जा सकता है। इसकी लम्बाई पचास से साठ फुट तथा चौड़ाई छः फुट तक रहती है। अब्बुल फ़ज़ल ने आईने अकबरी में लिखा है कि इस प्रकार की नौकाएं व्यावसायिक उद्देश्यों के लिये बनाई जाती हैं।

खोच (KOUCH) दो प्रकार का होता है। एक छोटे तथा दूसरा बड़े आकार का। छोटे प्रकार के खोच में किसी प्रकार की आवासीय सुविधा नहीं

रहती। किन्तु बड़े आकार वाले खोच में अस्थायी आवास का कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य रहता है जो एक कमरे तक ही सीमित होता है। इस प्रकार के जलीय आवासों में केवल खुरदरे प्रकार की वस्तुएं, जैसे इमारती लकड़ी, ईंटे, पत्थर, ईंधन और रेत आदि, ढोया जाता है। इसकी लम्बाई बहज से कम होती है तथा इसमें चार सौ मन तक के भार की वस्तुएं लादी जा सकती हैं।

समय की गति के साथ बहज़ का विकसित रूप आज डोंगे के रूप में हमारे सामने है। इसका पेंदा बहज़ की तुलना में चौड़े किस्म का होता है तथा इसकी लम्बाई पचास से साठ फुट और चौड़ाई छः फुट रहती है। शुरू-शुरू में इसके ऊपर भी चटाईयों की बनी छत हुआ करती थी तथा किनारों पर सरकंडों की तीलियों की बनी चटाईयां लगी रहती थी। किन्तु बाद में, जब यहां पर विदेशी पर्यटकों का आना शुरू हुआ तो चटाईयों से बनी छतों का स्थान शिंगली की छतों ने ले लिया। तथा इसकी दोनों ओर चटाईयों के स्थान पर लकड़ी की हल्की पट्टियों को दीवारें खड़ी की जाने लगी। डोंगा के पृष्ठ भाग में परिवार के प्रमुख तथा इसके घर के अन्य सदस्य निवास करते हैं तथा दो कमरे इसके बीच के भाग में होते है जिन में पर्यटकों को बिठाया जाता है। बहज़ की अपेक्षा यह जलीय आवास इतना हल्का होता है कि एक ही बार खेंचने पर यह जलस्तर पर दो फुट आगे बढ़ जाता है। ग्रीष्म-काल में यदि डोंगे में बैठकर जलविहार किया जाए तो बड़ा ही आनन्द आता है।

1947 से पूर्व, जबकि श्रीनगर में परिवहन की सुविधाएं बहुत कम थीं, घूमने-फिरने के इच्छुक मुग़ल उद्यानों की सैर डोंगों में बैठकर ही किया करते थे। तथा उनके अन्दर संगीत की गोष्ठियां हुआ करती थी। कुछ लोग विवाह के समय दूल्हे की बारात को डोंगों में ले जाने में अपने आपको गौरवान्वित समझते थे। शीतकाल में जब कश्मीर में पर्यटकों का आना बन्द हो जाता है, डोंगे को भी अनाज की ढुलाई के काम में लाया जाता है। यह दो सौ मन भार उठा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में, जब विदेशी, विशेषतः योरुप के पर्यटकों का आना यहां बढ़ने लगा, तो जलीय आवासों तथा छतों वाली नौकाओं के अधिक संख्या में निर्माण के साथ-साथ इन्हें अधिक सुविधाजनक, आकर्षक एवं सुन्दर बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप डोंगे ने, जो तत्कालीन जलीय आवासों में सुविधाजनक समझा जाता था, हाऊस बोट का आकार ग्रहण कर लिया। रिहायशी उद्देश्यों के लिये यद्यपि यहां मुसलमान शासकों के भरपूर प्रयासों से दुछत्ती नौकाओं के निर्माण का श्रीगणेग हो चुका था, तथा इसके बारे में कहा जाता है कि अकबर महान जब 1516 ईस्वी में अपने सिंहासनारूढ़ होने की पांचवीं वर्षगांठ मनाने के लिये यहां आया तो उसके लिये पहली बार दुमंजिली नौका का निर्माण किया

गया, जिस में बैठकर उसने श्रीनगर की सैर का आनंद उठाया। किन्तु हाऊस-बोट की मौजूदा परिकल्पना जिस योरूपवासी ने आज से लगभग 97-98 वर्ष पहले 1888 में की वह मिस्टर केनार्ड (Mr. Kenard) था। उसी के प्रयासों से[1] 1918 में यहां पहली बार दुमंजला हाऊस बोट बनाया गया, जिसका नाम "Col. R. Satorias and Marty Kenard Victory" रखा गया। केनार्ड के प्रयासों से निर्मित वह हाऊस बोट[2] आज भी श्रीनगर में, राजबाग के पास जेहलम नदी के बीच खड़ा अतीत काल का स्मरण कर रहा है।

वास्तव में हाऊस बोट यहां पर व्यावसायिक उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर बनाया जाता है। यह अपने आकार प्रकार, बनावट तथा शैल्पिक दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय तथा आकर्षक होता है तथा कवि हाली के अनुसार—

"सराए आम है याराने नुक्ता-दां के लिये"

हाऊसबोट हर पर्यटक का मन मोह लेता है। हाऊस बोट छोटे-बड़े सभी प्रकार के होते हैं। एक बड़े हाऊस बोट की लम्बाई साठ से नब्वे फुट तक तथा चौड़ाई पंद्रह सौलह फुट के आस-पास होती है। एक आलीशान बंगले के समान हाऊस बोटों में भी कमरों का निर्माण सुविधा संपन्न आवासीय सुविधाओं को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इनमें दीवानखाना (ड्राईंग रूम), खाने का कमरा (डाईनिंग रूम), सोने का कमरा (बैडरूम) तथा रसोईघर पैंटरी (Pantry) आदि इसके विशेष कमरे होते हैं। हाऊस बोट की ऊपर वाली छत पर ग्रीष्मकाल में आस-पास के वातावरण तथा प्राकृतिक दृश्यों से आनंदित होने के लिये एक बालकोनी (Balcony) अवश्य रहती है। इसमें कुरसियां लगी होती हैं तथा किनारों पर झीने परदे लटके हुए दिखाई देते हैं।

हाऊस बोट का ड्राईंग रूम इस के अन्य कमरों की अपेक्षा अधिक खुला तथा ईरानी एवं कश्मीरी कालीनों से सुसज्जित होता है। अखरोट की लकड़ी का बना फर्नीचर किसी भी हाऊस बोट के लिये एक अनिवार्य सामान समझा जाता है। इसके भीतर राईटिंग टेबल, कुर्सियां, सोफा-सैट तथा अन्य सजावटी वस्तुएं लगी रहती हैं। हाऊस बोट की भीतर वाली छत (Ceiling) प्राय: 'खतम बंद' शैली से बनाई जाती है। इस प्रकार की छत बनाने में यहां के कारीगर अद्वितीय हैं। इन छतों के लिये सनोबर की लकड़ी ही प्रयुक्त होती है।

ड्राईंग रूम में भी कालीन अथवा बहुमूल्य ड्यूरेट (Durret) बिछे रहते हैं। इसके दरवाज़ों एवं खिड़कियों पर महीन व बढ़िया पर्दे लगाए जाते हैं।

---

1. 'Kashmir'—M. D. Sofi.
2. शीराज़ा (कश्मीरी) वर्ष 22, अंक 64, काशर अजायबात अंक, प्रकाशक कल्चरल अकादमी श्रीनगर।

कमरे की सौन्दर्य वृद्धि के लिये भीतरी छत को कांच के झाड़ (Chandelier) से सुसज्जित करना आवश्यक समझा जाता है। ग्रीष्म ऋतु में कमरों को ठंडा रखने के लिये तथा शीत काल में गर्म रखने के लिये विशेष प्रबन्ध किये जाते हैं। आज के इस वैभव-प्रिय युग में हाऊस बोट के बैडरूम (शयनकक्ष) को पर्यटकों के आकर्षण और मनोरंजन के लिये टैलीविज़न सैट भी तो रखा हीं जाता है।

भोजन कक्ष (Dining Room) में भी कालीन बिछे रहते हैं तथा दायें-बायें छोटी-छोटी अलमारियों में चीनी का सामान, कांच के बरतन तथा कटलरी का सामान सजाया रहता है। इसी कमरे के एक कोने में फ्रिज (रेफ्रीजरेटर) तथा कश्मीरी कला की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियां सजावट के लिये रखी रहती हैं। रसोईघर (किचन) अन्य कमरों की अपेक्षा काफी छोटा होता है। इसमें पर्यटकों के खाने-पीने के लिये बहुमूल्य बर्तन तथा अन्य वस्तुएं दीवारों के शैल्फों पर करीने से सजाकर रखे रहते हैं। इसके अतिरिक्त पर्यटकों की रूचि के अनुरूप पेय पदार्थ आदि भी इस कमरे की शोभा बढ़ाते हैं।

जहां तक एक शयनकक्ष (बैडरूम) की सज्जा का संबंध है। इस में अखरोट की लकड़ी से निर्मित आकर्षक पलंग दायें-बाएं सजे हुए होते हैं। इन पर डनलप के नर्म नाजुक गद्दे शयन कक्ष की शोभा का एक अनिवार्य अंग समझे जाते हैं। श्रृंगार के लिये शीशे वाली मेज़ (Dressing Table) भी इस कमरे की आवश्यक वस्तुओं में शामिल है। बिजली के प्रबन्ध के साथ-साथ (बिजली बन्द हो जाने की सूरत में) गैस लैम्प तथा आधुनिक युग में जनरेटर का प्रबन्ध हाऊस बोट की ज़रूरतों का एक अनिवार्य अंग समझा जाता है। शयन कक्ष के साथ में स्नान गृह (Attached bathroom) में ठंडे तथा गर्म, दोनों तरह के पानी को उपलब्ध कराने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

हाऊस बोट के साथ लगे डोंगे में हाऊस बोट का मालिक तथा उसका परिवार रहता है। वहीं पर हाऊस बोट में ठहरने वाले पर्यटकों के लिये भोजन तैयार किया जाता है। कश्मीर के इन जलीय आवासों की संख्या, एक नवीनतम सर्वेक्षण के अनुसार, लगभग एक हज़ार है[1]। यह जलीय आवास राज्य की ग्रीष्मकालीन राजधानी श्रीनगर में नगीन बाग़, नसीम बाग़, चिनार बाग़, डल सरोवर तथा पुराने अमीराकदल पुल से मुन्शी बाग़ तक जेहलम नदी के दोनों तटों पर पर्यटकों की दृष्टि को आकर्षित करते दिखाई देते हैं। इसी कारण योरुप के पर्यटक प्रायः होटलों अथवा किराये के मकानों में रहने की जगह हाऊस बोटों में ही रहने को प्राथमिकता देते हैं। राज्य के पर्यटन विभाग

1. शीराज़ा (कश्मीरी) वर्ष 22, अंक 65, काशिर अजायबात अंक, प्रकाशक—कल्चरल अकादमी, श्रीनगर।

(Tourism Department) ने इन जलीय आवासों का वर्गीकरण करके पर्यटकों के खाने-पीने तथा ठहरने के लिये जो दैनिक दरें निर्धारित की हैं। उसके अनुसार प्रत्येक पर्यटक को डीलक्स प्रकार के बढ़िया हाऊस बोट में रहने के लिये 220 रुपये, 'ए' श्रेणी के हाऊस बोटों के लिये 150 रुपये, 'बी' श्रेणी के लिये 100 रुपये, 'सी' श्रेणी के लिये 90 रुपये तथा डमी श्रेणी के लिये 45 रुपये प्रतिदिन की दर से देने पड़ते हैं।

आज के इस बढ़ती मंहगाई के युग में एक जलीय आवस के निर्माण पर लाखों रुपये की लागत आती है। यदि देखभाल तथा रख-रखाव में सावधानी बरती जाए तो एक हाऊस बोट बिना किसी प्रकार की विकृति के तीन शताब्दियों तक चल सकता है।

ईश्वर के बनाए स्वर्ग समान इस छोटे से भूखण्ड में यहां की हर वस्तु अपनी मनोहारिता के कारण अपूर्व एवम् अद्वितीय है। क्योंकि जिस देश में जिस वस्तु पर दृष्टिपात करें वही मन पर जादू कर जाए, प्रत्येक दृश्य नज़रों में समा जाए, हर ऋतु मन को मोहित कर दे, हर नज़ारा रह-रहकर आंख-मिचौली करे तथा हर दृष्टि का तीर देखते ही दिल में उतर जाए तो वहां मन बरबस उल्लसित होगा। इस उल्लास की तरंगों पर हमें यहां के जलीय आवास अतीत काल से बराबर पुकारते चले आये हैं।

च कश्मीर इन्तख़ाबे सन्नत किश्वर
कसम ख़ुदा बख़ाकश हौज़े कौसर
नज़र चन्दां के बरदस्तश गुमारी
बखुर आबे जमुर्द नीस्त जारी
दरीं गुलशन ज़ डोशे खंदा ओ गुल
नमी आयद ब गोश आवाज़े बुलबुल।

(कदसी) □

अनु० प्रो० सुभाष भारद्वाज

कश्मीरी-कांस्य मूर्तियां

□ मोतीलाल साकी

ललितकलाओं को विकसित करने के लिए पुरातन काल से ही कश्मीर का योगदान गौरवशाली रहा है। इन कलाओं का रंगारंग इतिहास तब तक अपूर्ण है जब तक इनमें कश्मीर का वर्णन नहीं होता। खान-पान की बात हो या साहित्य की, मूर्तिकला हो या संगीत, चित्रकला हो या भवन निर्माण, गर्ज यह कि ललित कलाओं के इन सभी रूपों में कश्मीर की विलक्षणता अक्षुण्ण है।

निस्संदेह कला के अलग-अलग रूपों (प्रकारों) के लिए कश्मीरी कलाकारों ने अलग-अलग स्रोतों से प्रभाव ग्रहण किया है, परन्तु इन्होंने एकरसता से बचते हुए प्रत्येक कला को अपने मौलिक रंग-ढंग से संवारा, ढाला व इसका शृंगार किया है, जिससे उनकी निजी छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अपनी प्रतिभा से कश्मीरियों ने वह स्थान बनाया है कि भवन-निर्माण, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि कलाओं के अलग-अलग स्कूलों (सम्प्रदायों) में आज भी सुधीजन इस ओर आकृष्ट होते हैं।

कश्मीर की मूर्तिकला पर बेशक विश्व मूर्तिकला का प्रभाव पड़ा है परन्तु समय के साथ-साथ इसने एक अलग ही रूप धारण कर लिया था। स्थानीय प्रभाव के कारण यह कला बहुत उन्नत हुई और इसका मंजा हुआ स्वरूप सामने आया। समय के साथ-साथ हमारी मूर्तिकला ने गंधार-प्रभाव सहित, गुप्त प्रतिहार एवं मथुरा-स्कूल के प्रभाव को भी समाहित किया ; किन्तु हमारे मूर्तिकारों ने समय के प्रत्येक पड़ाव में अपनी विलक्षणता को जीवित रखा। इस प्रकार कश्मीरी मूर्तिकला, रंग-बिरंगे फूलों का वह ताजा गुलदस्ता बनी जिसमें विभिन्न प्रकार के रंगों और गंधों के अतिरिक्त एक नयी प्रवृत्ति भी विद्यमान रहती है।

मूर्तिकला में कश्मीरी प्रभाव केवल कश्मीर तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसने हिमाचल प्रदेश, सवात, लद्दाख और तिब्बत पार तक अपनी

पहचान करायी है। मूर्ति कला का एक रूप है कांस्य-मूर्ति ढालना या गढ़ना और इस कला में पुरातन काल से ही कश्मीर को एक विशेष स्थान प्राप्त है। यहां इसका एक अलग स्कूल भी विकसित हुआ था। कांस्य मूर्ति कला में, ललित कलाओं के इतिहास में कश्मीर को, एक अलग स्थान प्राप्त है। अन्य कलाओं की भांति कश्मीरी कांस्य मूर्ति कला की भी एक अलग पहचान है। पहली बात तो यह है कि कश्मीर में धातु की मूर्तियां बनाने में कांस्य के स्थान पर पीतल का उपयोग अधिक होता रहा है। समस्त देश में कश्मीर ही अकेला ऐसा स्थान है जहां मूर्ति कला में कांस्य के स्थान पर पीतल को प्राथमिकता दी जाती रही है। कश्मीर में निर्मित कांस्य मूर्तियां भीतर से खोखली हैं और इनकी ढलाई के उपरान्त इन पर नक्काशी की गयी है। मूर्तियों को ढालने और गढ़ने के पश्चात् इन्हें चमकदार बनाया जाता रहा है। कश्मीरी कांस्य-प्रतिमाओं की एक और विशेषता इनके ऊपर 'मनबतकारी' (नक्काशी) का काम है। मूर्तियों की आंखें चांदी से व होंठ तांबे से बनाए गए हैं। बहुधा मूर्तियों में तो पोशाक भी तांबे की नक्काशी से ही मूर्त्त की गयी है ताकि पोशाक और भी शोभायमान हो उठे। सच तो यह है कि नक्काशी का कलात्मक काम जो कश्मीर में किया गया है—कांस्य मूर्तिकला से सम्बन्धित और कोई भी स्कूल इससे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। प्रताप द्वितीय पाल के अनुसार यह असम्भव नहीं कि नक्काशी की यह कला गज़नी से होती हुई पूर्वी ईरान पहुंची। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 11वीं सदी के पश्चात् ही पीतल पर नक्काशी, ईरानी लोहारों के लिए एक विशेष कला बन चुकी थी। कश्मीरी कांस्य प्रतिमाओं की एक ओर विशेशता इनकी पोशाक में है और प्रमुखतः प्रतिमा को खड़ा करने वाले निचली सतह के पत्थर (भद्र पीठ) पर कश्मीरी कमल के फूल व कश्मीरी आभूषणों को उकेरना है। क्लीवलैंड म्यूज़ियम में आठवीं सदी ईस्वी की सूरज देवता की एक कांस्य प्रतिमा विद्यमान है। इसमें देवता की कमर से धोती बांधी गयी दिखाई गयी है। इसका फिरन (पिहान की भांति) किसी चोगे की तरह घुटनों तक लम्बा लटकता पाया गया है, जिसके चाक कटे हुए हैं। मेरे विचारानुसार यह वस्त्र ही कश्मीरी-फिरन का पूर्व रूप है। यदि इस वस्त्र के चाक बन्द कर दिये जायें तो यह कांस्य प्रतिमा धोती बांधे हुए कश्मीरी ब्राह्मण महिला लगेगी और यदि बंधी कमर को खोल दिया जाए तो यह पुरातन पण्डित फिरन बन जाता है। इस प्रकार के वस्त्र साईमन या कुशान वस्त्रों में गिने गये हैं। इस प्रकार से कश्मीरी फिरन की बात सन् ईसवी से पूर्व काल तक चली जाती है। वहां भी कश्मीर का उत्तरी भाग कनिष्क से पूर्व कुशान राज के अधीन रह चुका था और कुशानों से पहले मुछड़ इत्यादि की ओर का काफी क्षेत्र मिनांनदरस के अधीन रह चुका था। दिल्ली के नेशनल म्यूज़ियम में छठी सदी ईस्वी की सूरज देवता की एक और कांस्य मूर्ति मिलती है। इसकी पोशाक



कश्मीर संग्रहालय की एक दुर्लभ कांस्य मूर्ति—वैकुण्ठ नारायण

अद्भुत कश्मीरी फिरन के पूर्णतय: निकट है एवं फिरन का गला भी स्पष्ट देखा जा सकता है। मूर्ति के गले में सागलिर जैसा माला है जिसे अभी भी पुरानी कश्मीरी बूढ़ियां धारन करती है। आठवीं और नवीं सदी के मध्य बनी भगवान बुद्ध की बावन सेंटीमीटर ऊंची कश्मीरी कांस्य प्रतिमा न्यूयार्क के मैटरोपालिटन म्यूज़ियम में सुरक्षित है। इस पवित्र प्रतिमा के कानों में एक प्रकार का आभूषण है जिसके नीचे एक गोलाकार सी वस्तु बंधी है। इन कानों की बालियों से लटकी हुई वस्तु को मूर्तिकार ने कधों से जुड़ा बताया है। कांस्य मूर्ति विशेषज्ञों ने आज तक इस आभूषण को लेकर कोई मत प्रकट नहीं किया है। यह सच है कि कश्मीरी संस्कृति से सम्बन्धित कोई भी व्यक्ति यह बता सकता है कि यह कानों के आभूषण 'डिज होरू'[1] ही है, जो केवल कश्मीरी पंडित औरतों से ही सम्बन्धित हैं। 'डिज होरू' के ऊपर उसी भांति 'लटनी ताल रस्सी'[2] और उसी प्रकार चुरट[3] (गोलक) है जो कानों से लटका हुआ है। आज कल, जब, ताल रस्सी व चुरट का प्रयोग घट गया है और इसका स्थान अब 'अट्ट'[4] ले ने लिया है तो भी 'टुंब' (आभूषण) की पहचान करना कोई कठिन कार्य नहीं है। 'डिज होरू' की माया की एक पत्थर मूर्ति जिसका कान टूटा हुआ है श्री प्रताप सिंह म्यूज़ियम (श्रीनगर) में रखी हुई है। बुद्ध धर्म में बड़े कर्णाभूषण बोद्ध (बुद्धिमता) का प्रतीक समझा जाता है एवं 'डिज होरू' भी इस मतानुसार इसी भावना का प्रतीक हैं। इसे भी बुद्ध धर्म की देन कहा जा सकता है। सम्भवत: 'महायान' सम्प्रदाय में इसका कोई अन्य महत्व भी हो, इसे जानने की आवश्यकता हैं। विद्वानों का विचार है कि इस आभूषण का सम्बन्ध मध्य एशिया के साथ है—शोध की आवश्यकता है। यह सत्य है कि कश्मीर में इस आभूषण का आज तक का चलन पुरातन लोक-विश्वास को दर्शाता है। जिस प्रकार कश्मीरी पण्डितों ने बुद्ध धर्म से बहुत कुछ प्राप्त किया है उसी भांति इन्होंने 'डिज होरू' भी विरासत में ही ग्रहण किया है। 'डिज होरू' का औरतों संग जुड़ जाना भी विचित्र बात नहीं है। हिन्दू विश्वास के अनुसार स्त्री शक्ति या सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, काली इत्यादि का रूप मानी गयी है। बोद्धिकता व विद्वता का प्रतीक होने के कारण हिन्दुओं ने एवं विशेषत: कश्मीरी पण्डितों ने 'डिज होरू' को औरतों से जोड़ रखा है।

कश्मीर में बुद्ध धर्म के विशेष चिह्नों एवं प्रतीकों के विकास और इनके विद्यमान रहने के विशेष ऐतिहासिक कारण भी हैं। उस समय 'महायान' मत में कश्मीर को वही विश्वास था जो 'हीनयान' मत में मथुरा को था।

यह श्रद्धा कश्मीर में चौदहवीं सदी ईस्वी तक विद्यमान रही क्योंकि इस समय तक विदेशी बौद्ध यात्री कश्मीर आते-जाते रहे और कश्मीरी भिक्षु बौद्ध धर्म का प्रचार करने हेतु दूर देशों तक जाते रहे। पारजन पारमते[6] की एक और कांस्य मूर्ति सैमवल ऐलन बर्ग न्यूयार्क के संग्रहालय में मिली हैं। इस मूर्ति

की विशेषता, इसके कानों में बड़ी-बड़ी कानों की बालियां एवं भुजाओं में कंगन पड़े हुए हैं। ये दोनों आभूषण अभी तक कश्मीरी ग्रामीण महिलायें पहनती हैं।

कला-निपुण कश्मीरी मूर्तिकारों ने इस प्रकार से अपनी कला को हस्तांतरित भी किया एवं इसे आने वाली पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित रखा।

राजतरंगिणी में उन ढेर-सी बड़ी मूर्तियों की भी चर्चा की गयी है, जिनको अलग-अलग राजाओं, मन्त्रियों, रानियों एवं धनी लोगों ने अलग-अलग मन्दिरों में स्थापित किया हुआ था। इनमें सोने, चाँदी व पीतल की मूर्तियां थीं। प्रहासपुर एवं मारतंड में राजा ललिताद्वितीय ने मन्दिरों में सोने की मूर्तियां स्थापित की थीं। श्रीनगर एवं प्रहासपुर के विहारों में भगवान बुद्ध की बहुत बड़ी-बड़ी तांबे की मूर्तियां स्थापित हैं। परन्तु इन बहुत बड़ी धातु प्रतिमाओं में से एक भी सुरक्षित नहीं है। इसके लिए ऐतिहासिक हालात उत्तरदायी हैं। श्रीनगर में भगवान बुद्ध की तांबा-मूर्ति की बात करते कल्हण लिखता है कि जब क्षेमगुप्त ने जैनेन्द्र विहार जलाया, भगवान बुद्ध की मूर्ति हतप्रभ-सी सम्पूर्ण शहर की ओर देखती रही थी। श्रीनगर के पांदरठन विहार में मथुरा से लायी गयी भगवान बुद्ध की वह बड़ी धातु-प्रतिमा आदमकद थी और उसे वहां स्थापित किया गया था, यह प्रतिमा तुर्क मन्त्री चुंनकन ने राजा ललिताद्वितीय को एक बहुमूल्य लाल देकर खरीदी थी। यह आदमकद धातु प्रतिमा कल्हण के समय तक विद्यमान थी। विपरीत, ऐतिहासिक हालातों का शिकार होने के बावजूद, आज तक भी दुनिया के अजायबघरों में बहुत बड़ी संख्या में कश्मीरी कांस्य मूर्तियां विद्यमान हैं। इनका सूक्ष्म निरीक्षण करने के उपरान्त कश्मीर की मूर्ति-कला का सुनहरी काल आंखों के सामने आ जाता है।

जब यहां की मूर्तिकला शिखर पर भी एवं यहां से आसपास के स्थलों के लिये भी कश्मीर प्रेरणा स्रोत था।

कश्मीर की जितनी भी कांस्य-मूर्तियां अभी तक बची हैं उनमें हिंदू धर्म से संबंधित मूर्तियों की संख्या से बुद्ध मूर्तियों की संख्या अधिक है।

मूर्तिकला में कश्मीर को भी उसी प्रकार का स्तर प्राप्त था जैसा बिहार या बंगाल को प्राप्त। जैसा कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है, परन्तु कश्मीरियों को यह विशेषता भी प्राप्त है कि वे केवल परम्परा से ही जुड़े न रहे बल्कि उन्होंने इस कला का विकास भी किया। इसी विलक्षणता के फलस्वरूप कश्मीर की कांस्य-मूर्तियां हर स्थान (प्रत्येक संग्रह) में आसानी से पहचानी जाती हैं।

धातु मूर्तियों के अतिरिक्त कश्मीर में हाथी दांत की मूर्तियां भी बनती रही हैं। सातवीं सदी ईस्वी में कारकोट दौर की हाथी दांत की अलखईश्वर

की मूर्ति 'प्रिंस ऑफ वेल्ज़ म्यूज़ियम' बम्बई में रखी हुई है। मूर्ति में बालों (चोटियों), आभूषणों और वस्त्रों की सजावट देखने योग्य है। मूर्तिकार ने जिस कलात्मक ढंग से मूर्ति के चेहरे को उजागर किया है उसे देखकर तो छाया चित्र भी पीछे रह जाता है। हाथी-दांत की यह मूर्ति कश्मीरी मूर्तिकला का एक शाहकार है।

प्रिंस ऑफ वेल्ज़ म्यूज़ियम में वैष्णों की कांस्य-मूर्ति देखने योग्य है। पच्चीस सैंटीमीटर ऊंची इस कांस्य-मूर्ति का संबंध नौवीं सदी ईसवी के साथ है। गरूड़ पर सवार वैष्णों की इस मूर्ति को बड़ी सफाई से बनाया गया है। गरूड़ वाहिनी वैष्णों को दोनों ओर से चार देवियां उस्तुत किए हुए हैं। ये देवियां पत्तों पर खड़ी हैं। वैष्णों के चार सिर हैं, पहला आदमी का, दूसरा शेर का, तीसरा सूअर का एवं चौथा राक्षस का है। इस कश्मीरी कांस्य-मूर्ति की चार बाहें एवं ऊपर की दोनों भुजाओं में गदा व चक्र हैं। इसकी दायी ओर का मंडल का आधा हिस्सा टूट गया है। मूर्ति के निचले दोनों हाथों में कमल पुष्प व शंख हैं। गरुड़, कमल पुष्प के ऊपर है व इसकी भी चार भुजाएं हैं। इसके बीच के हाथ वैष्णों को थामे हुए हैं और शेष दो हाथों में अमृतकलश हैं। मूर्ति की विशेषता में इसकी सजावट में पत्तों का प्रयोग है, जिससे इसकी शोभा और बढ़ गयी है। अलग-अलग मुखों की आंखों पर चांदी की नक्काशी है। 'डंगलस बैंरट' अनुसार कांस्य की यह प्रतिभा अपनी तरह की केवल एक ही कला कृति है। इसी प्रकार की दो अन्य मूर्तियां वैरीनाग से मिली हैं। मूर्ति शिल्प कला अनुसार, इन मूर्तियों का वर्णन, बहुत कम ही मूर्तियों से भिन्न है। देवसर के अवतार चक्र में वैष्णों के सिर पर नरसिंह आदमी व सुअर मुख है जिसके ऊपर होई-मुख है। यह रूप उसे गुव राक्षस को मारने के लिये धारण करना पड़ा था।

वैकुण्ठ नारायण की मूर्ति पहली बार अवंतीपुर से मिली है। अवंतीपुर के खंडहरों का संबंध नौवीं सदी ईस्वी से है और इस शैली की बैकुण्ठ नारायण की अन्य मूर्तियां दक्षिण पूर्वी राजस्थान में दसवीं सदी ईसवी के उपरांत की हैं। सभी शोधार्थियों ने मूर्तिकला में कश्मीर की देन को सराहा है परन्तु 'हरमन गोइज़' लिखता है, सभ्यता-पक्ष को लेकर कश्मीर ने अपने विशेष, शिव व वैष्णों मत से संबंधित मूर्तिकला को बहुत उन्नत किया। इसकी देन है, तीन मुखी वैष्णों, जिसमें शाही मुख के साथ-साथ, नरसिंह व सुअर के मुख दिखाए गये हैं। सूर्य देवता की मूर्ति के बहुत से मुंह व भुजाएं हैं। इसी शैली की सूर्य देवता की मूर्ति सासानी वस्त्रों में मारतंड से प्राप्त हुई है।

न्यूयार्क की डोरस वैनर गैलरी में ऊश्नैश में देवी की दसवीं सदी की 17 सैंटीमीटर ऊंची एक कांस्य-मूर्ति रखी हुई है। इस मूर्त्ति की विशेषता इसके मंडल की चौड़ाई है, जो कश्मीर के भवन-निर्माण का विशेष प्रतीक है। मूर्ति

की चौड़ाई छत्रावली का खंभा है एवं यह शैली आज भी कश्मीर में ऋषि भवन निर्माण की कला में दृष्टिगोचर होती है । इसमें गुंपा और स्तूप को मिला दिया गया है व इसके ऊपर छत्रावली वर्ग चढ़ाया हुआ दिखाई देता है। इसके उपरांत देवी ने बाजू बंद, वक्षमाला व चूड़ियां डाली हुई हैं। ये सभी आभूषण आज तक कश्मीर में प्रचलित हैं।

पान-ऐशियन संग्रह में शामिल पारजन पारमते की एक कांस्य-मूर्ति इस प्रकार की है कि इसमें देवी ने 'डिज होरू' की भांति कर्ण-आभूषण डाला हुआ है।

कश्मीर की कांस्य-मूर्तिकला पर अभी विस्तार से काम करना शेष है। इन मूर्तियों में बहुधा वही मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो तिब्बत के राजनैतिक परिवर्तन के दौरान लायी गयी थीं । इनमें से ढेर सारी मूर्तियां तो विदेशी संग्रहालयों में पहुँच गयी है जबकि कुछ मूर्तियां ही निजी संग्रहालयों का शृंगार बनी हैं। इससे पूर्व कुछ मूर्तियां उस समय ले जायी गईं जब महाराजा कश्मीर ने 1948 ईस्वी में तख्त छोड़ा था। उस समय तक यही विचार था कि कश्मीरी कांस्य-मूर्तियां आटे में नमक की भांति ही बची हुई हम तक पहुँची हैं।

कश्मीरी कांस्य-मूर्तियां किस प्रकार तिब्बत पहुँची, यह तो स्पष्ट है कि कश्मीर में राजनैतिक उथल-पुथल के परिणाम स्वरूप कश्मीरी भिक्षु घर-बार छोड़कर उन प्रदेशों में भाग गये, जहां बौद्ध मत को प्राधान्य प्राप्त था अतः इस प्रकार से ये कांस्य-प्रतिमाएं भी पूजा-अर्चना हेतु वहां पहुंच गयीं परन्तु आठवीं व नवीं सदी व खूबसूरत कांस्य-मूर्तियां जिनमें महात्मा बुद्ध की मूर्तियां एवं स्तूप शामिल हैं आज भी लद्दाख के गुफाओं में विद्यमान हैं। ढलानदार छतें कश्मीर के भवन-निर्माण की विशेष पद्धति परन्तु अपने नाक-नक्श से भी ये मूर्तियां कश्मीरी मूर्तिकला के बहुत निकट हैं।

फिर भी यह उल्लेखनीय है कि अपनी कला के शिखर पर पहुँचने के समय कश्मीरी मूर्तिकारों ने अपने इर्द-गिर्द के स्थानों जैसे कि सवात, लद्दाख, तिब्बत व दूसरे अनेक क्षेत्रों को इतना प्रभावित किया कि कश्मीरी मूर्ति कला ने यहां भी अपना स्थान बना लिया । पर इन क्षेत्रों से जो कांस्य-मूर्तियां निकली हैं वे तो वास्तविक रूप में कश्मीरी ही हैं। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ शिवरामामूर्ति इस मत के स्पष्टीकरण के लिये लिखते हैं —

'चंबा के बारमोर व डुतराही गांवों में जो महिष-मर्दनी, बैठा हुआ नरसिंह एवं क्वांरी या ऐसी ही कांस्य-मूर्तियां मिली हैं उनके चेहरे बड़े व रूप सुन्दर हैं। ये मूर्तियां अठारहवीं सदी ईस्वी में कश्मीरी मूर्तिकला का द्योतन करती हैं।

शिवराम मूर्ति का यह कथन स्पष्ट करता है कि कांस्य-मूर्तिकला का कश्मीरी स्कूल कल तक हिमाचल प्रदेश में एक जीवंत परम्परा थी।

कश्मीरी कांस्य-मूर्तियां आजकल जिन पुरातत्व-विभागों को सुशोभित कर रही हैं उनमें पान ऐशियन संग्रहालय, सिपनिक एंड संस लंदन, बर्लिन म्यूज़ियम, लास ऐंजलस कंटरी म्यूज़ियम आॅफ आर्ट, श्री प्रताप म्यूज़ियम श्रीनगर, नैशनल म्यूज़ियम दिल्ली, प्रिंस आॅफ वेल्ज़ म्यूज़ियम बम्बई, टारंटो यूनिवर्स्टी, अटकनज़ म्यूज़ियम डंनसास, क्लीवलैंड म्यूज़ियम, नारटन साईमन सग्रहालय, रिचमोंड म्यूजियम आॅफ फ़ाईन आर्टस, तिब्बत हाऊस नई दिल्ली, स्टील आॅर्ट म्यूज़ियम, मैंट्रोपॉलिटन म्यूज़ियम न्यूयार्क आदि अनेक और नाम भी वर्णन योग्य हैं।

जिस प्रकार विभिन्न सभ्यताओं के संगम का प्रभाव दूसरी वस्तुओं पर पड़ता है उसी प्रकार से कश्मीरी कांस्य-मूर्तियों पर भी पड़ोसी देशों का प्रभाव है। परन्तु इस प्रभाव ने किसी कमी को जन्म नहीं दिया अपितु इस कला के प्रत्येक रंग को स्थापित करने में ही अपनी भूमिका निभाई है एवं इसका विस्तार व प्रचार किया है। मेरा व्यक्तिगत अनुमान है कि कश्मीरी कलाकारों ने जो भी शिल्प पत्थर या धातु में ढाला है, उससे अनुमान लगता है कि इससे पूर्व भी यह कला लकड़ी इत्यादि पर की गयी है। इसके पश्चात् ही परम्पराओं ने नित नये रंग ग्रहण किये एवं इसी तरह यह विश्व प्रसिद्ध काम हुआ है। यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं है कि मूर्ति निर्माण व भवन निर्माण के साथ-साथ हमारे इस काम को भी पुराने समय से ही प्रसिद्धी प्राप्त रही होगी। परन्तु "वैले" अपनी "चैन हान शिव" नामक पुस्तक में लिखता है—'कश्मीर मेवों का देश है एवं यह हस्तशिल्प व कढ़ाई के कामों के लिये भी प्रसिद्ध है। इस सच्चाई को दृष्टिगोचर करते हुए यह दावा मानने योग्य नहीं है कि कश्मीर के इस काम का स्रोत मध्य एशिया रहा है व वह भी चौदहवीं सदी ईसवी के बाद का।' □

अनु० मनोज शर्मा

टिप्पणियों के संदर्भ :

1. **डिज होरू**—एक प्रकार का आभूषण जो विवाहित कश्मीरी ब्राह्मण औरतें कानों में पहनती हैं। इसका भार आठ से दस तोले (सोना) तक हुआ करता था। ये सोने की सांकलों या धागे से बंधे हुए कंधों तक लटकते रहते हैं।
2. **ताल रज़**—वह रस्सी या ज़ंजीर जो सिर के ऊपर से होती हुई डिज होरूओं को आपस में बांधती व भार संभालती है।
3. चुरट—डिज़ होरू ऊपर, चवन्नी जैसी, पहले जुड़ी हुआ करती थी पर अब इसका चलन समाप्त हो गया है।
4. **श्रंट**—वह धागा, जिसने 'बटनी ताल रज़' का स्थान ले लिया है।
5. **पारजन पारमते**—बुद्ध देवमाला का एक देवता।
6. **हेगुरो**—बुद्ध देवमाला का एक राक्षस जो चरित्र में हिरण्यकश्यप से मिलता-जुलता है।
7. **उशनैश विजय देवी**—बुद्ध देवमाला की एक देवी।

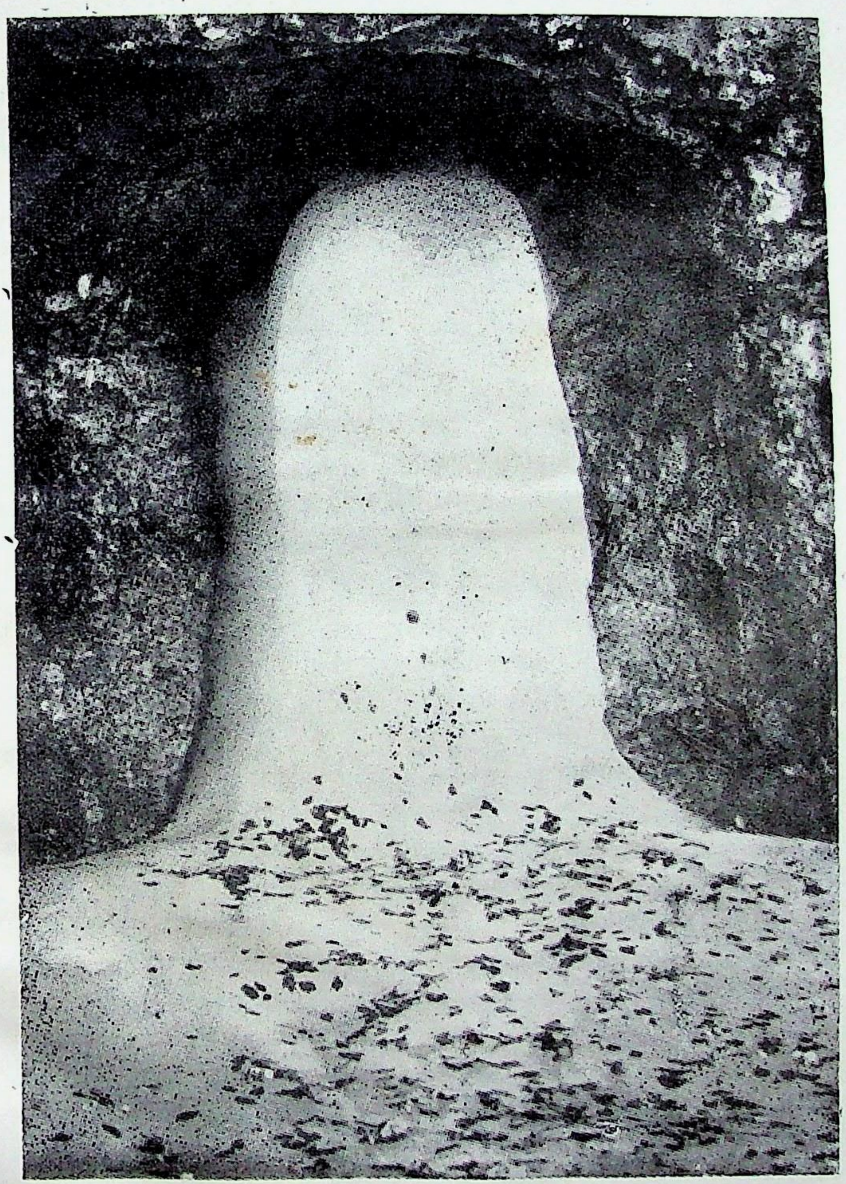
स्वामी अमरनाथ जी

☐ शाम लाल साधु

प्राय: लोगों का विश्वास है प्रकृति अथवा सृष्टि पैदा करने वाली कोई ऐसी शक्ति है जिसका कोई अन्त नहीं। वही इसकी रक्षा करती है और अन्त में अपने समय पर इसका संहार भी। इस असीम शक्ति को कई लोग एक ऐसा व्यक्तित्व मान लेते हैं जो विचित्र है। इसके लाखों नाम रखे गए हैं। कुछ इसे खुदा कहते हैं, कुछ गॉड, कुछ भगवान और कुछ शिव। शिव का अर्थ है वह शक्ति जो जगत का कल्याण करती है। यह प्रकृति अथवा सृष्टि इस में निहित रहती है, जैसे एक बहुत ऊंचा देवदार एक छोटे से बीज में होता है। इसके पश्चात् प्रत्येक सृजन विकसित हो जाता है और अपना समय बिता कर शिव में ही समा जाता है।

हमारे देश में करोड़ों की संख्या में लोग भगवान शिव की भक्ति तथा पूजा करते हैं। सैंकड़ों तीर्थस्थान, पर्वतों की चोटियों, समुद्र तट और वनों में स्थित हैं ज़हां भक्त लोग लम्बे और कठिन मार्ग को लांघ कर वहां पहुंचते हैं और भक्ति-भाव से पूजा-पाठ करते हैं। स्वामी अमारनाथ जी का तीर्थ जहां भगवान शिव ने देवताओं को दर्शन देकर अमृत-पान कराया है, सबसे बड़े पांच तीर्थों में से एक है। शेष चार तीर्थ बद्रीनाथ, जगन्नाथ, द्वारकानाथ और रामेश्वरम् हैं। अमरनाथ जी की यात्रा करने के लिए न केवल भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से ही लोग आते हैं अपितु दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों से भी आते हैं, जिनकी भाषा, जाति और धर्म भिन्न-भिन्न हैं। अमरनाथ का अर्थ है वह शक्ति जो अमर अर्थात् जिसका अन्त नहीं होता। इसका नाम अमरनाथ क्यों पड़ा इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

जिस तीर्थ को आज अमरनाथ कहते हैं उसका वास्तविक नाम अमरेश्वर था। पंडित कल्हण के अनुसार यहां राजा नर के समय (लगभग 1000 ई० पू०)



स्वामी अमरनाथ की पवित्र गुफा में शिवलिंग के पुण्य दर्शन

तक अमरेश्वर था। नीलमत पुराण में भी इसी नाम का उल्लेख आया है। जौन राज और सुखदेव या सुख पंडित ने भी इसी नाम का प्रयोग किया। लगता है अमरनाथ का नाम 300 वर्ष से चला आ रहा है।

अमरनाथ तीर्थस्थान बस्ती से बहुत दूरी पर है। मीलों तक बर्फ या फिर घास फैली हुई है। यहां कोई पेड़ भी नहीं है, न यहां कोई मन्दिर है। केवल बर्फ के भयानक टीले और घाटियां हैं। ठंडी हवा हड्डियों को चुभ जाती है और चारों ओर बड़े-बड़े पत्थर हैं। इन पर्वतों में एक संकरी घाटी है। एक पर्वत में बड़ी गुफा है जो यों लगती है, जैसे कोई पुराने समय का राक्षस मुंह खोले खड़ा हो। इस गुफा का मुंह कोई पचास फुट ऊंचा और इससे भी अधिक लम्बा है। इस गुफा में इससे कम गहराई होगी। इसमें एक बर्फ का शिवलिंग अथवा बर्फ की मूर्ति है जो जम गई है। यह मूर्ति लगभग वैसी ही है जैसी हम प्रायः शिव मन्दिरों में देखते हैं। अन्तर केवल इतना है कि यह सफ़ेद रंग की है और बर्फ से जुड़ गई है। अन्य दूसरी मूर्तियां काले रंग की बनाई गई होती हैं। इस लिंग की यह विशेषता है कि जब अमावस के बाद चन्द्रमा दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है, यह लिंग भी थोड़ा-थोड़ा बढ़ता जाता है और पूनम के दिन जब चन्द्रमा पूरा चमकता है तब यह शिवलिंग भी पूरा बन जाता है। इसके बाद चन्द्रमा के घट जाने के साथ-साथ यह लिंग भी थोड़ा-थोड़ा घुल जाता है। नये शुक्ल पक्ष में यह फिर बढ़ने लगता है।

अमरनाथ स्वामी अथवा अमरेश्वर यात्रा की महिमा क्या है? कहते हैं जिस समय यह प्रकृति भगवान शिव अथवा परमशिव में समा गई थी, उनके मन में एक इच्छा प्रकट हुई जो प्रकृति को बाहर निकालने की थी। इसके इसके फलस्वरूप इच्छा प्रकट होने पर, बाद में प्रकृति प्रकट हुई। प्रकृति से ही यह संसार प्रकट हुआ जो पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि तत्वों से बना है। इसके साथ ही जीव-जन्तु तथा देवता प्रकट हुए। मृत्यु की शक्ति भी यहीं से उत्पन्न होने लगी जिससे इन्द्र तथा दूसरे देवता भी भयभीत होने लगे। वे डर कर परमशिव की शरण में पहुंचे। उन्होंने परमशिव से पूछा कि वे मृत्यु के इस भय से कैसे मुक्त हो सकते हैं। भगवान इन पर प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी जटाओं से चन्द्रमा उतार कर उसे निचोड़ा और उस में से अमृत निकाला। वह अमृत जिसकी एक बूंद पीने से कोई भी अमर हो सकता है। अमृत की जो धारा वहां गिरी उस धारा से अमरावती नदी अथवा अमर गंगा बन गई। देवताओं ने अमृत पान किया और वे मृत्यु के भय से मुक्त हो गए। देवताओं की भक्ति से परमशिव प्रसन्न हुए और उन्हें दर्शन दिए। इसके पश्चात् उसी बर्फ के लिंग का स्वरूप प्रकट हुआ जो अब भी वैसा का वैसा ही है। उन्होंने देवताओं से कहा कि आप अमर हो गए हैं और यह स्थान अनंत समय तक अमरेश्वर के नाम से प्रसिद्ध रहेगा क्योंकि यहां हर कोई अमर हो जाएगा।

व्यक्ति को अमृत प्राप्त करने की इच्छा सदैव रही है । जब अमरेश्वर गुफा की खबर सब जगह फैल गई तो लोग वहां यात्रा के लिए आने लगे ताकि उन्हें उत्तम फल प्राप्त हो । यह कहना कठिन है कि यह यात्रा कब से आरम्भ हुई । राजतरंगिणी में दो स्थानों पर इसका उल्लेख आया हैं । एक उल्लेख यह मिलता है कि राजा संधेमान (ई० पू० 34 से 16 तक) बर्फ के लिंग की पूजा करता था । जिस से माना जा सकता है कि लोगों ने अमरेश्वर लिंग को बहुत पहले देखा था और उनका पूर्ण विश्वास था कि इसकी पूजा करने से जन्म सफल होता है । दूसरी घटना इस से बहुत पहले हुई है । राजा नर (राजतरंगिणी, तरंग पहली) के समय में एक ब्राह्मण और उसका ससुर परिवार के साथ राजधानी छोड़कर शेष नाग की ओर गया जो अमरेश्वर के मार्ग में आता है । इसके पश्चात् नीलमत पुराण में इसका उल्लेख मिलता है ।

यह बात दृढ़ विश्वास से नहीं कही जा सकती कि स्वामी अमरनाथ की यात्रा की प्रथा कितने हज़ारों वर्षों से चली आ रही है । लगता है कि एक समय तक लोग यह यात्रा करते रहे होंगे और बाद में मौसम की खराबी अथवा अन्य किन्हीं कारणों से यह यात्रा सम्भव नहीं रही होगी और बहुत समय तक लोगों ने यह यात्रा नहीं की होगी ।

सन् 1928 में, विशेष कर यात्रा के दिनों बहुत बाढ़ आई थी और विशेषकर पहलगाम और अमरनाथ के मार्ग में सैंकड़ों यात्री तथा साधु मारे गये थे । तत्पश्चात जो परिस्थितियां उत्पन्न हुईं उन से वहां की और शादीपुर की यात्रा पर प्रभाव पड़ा । शादी की यात्रा लोग भूल ही गए । इसके बाद अमरनाथ की यात्रा को पुनः महत्व मिला । इस विषय में कहा जाता है कि मटन के मलिकों द्वारा इस गुफा का पुनः पता मिला । कहते हैं कि मलिकों का वरिष्ठ व्यक्ति भेड़ें चराता था और वह महांगुनस पर्वत के उस पार पंचतरणी के आस-पास जाया करता था । उसे इस गुफा तथा बर्फ के लिंग के विषय में कोई जानकारी न थी । एक दिन सारी भेड़ें वापस न आईं और वह इन्हें ढूंढने के लिए चारों ओर तलाश करने लगा । इसी दौरान उसने यह गुफा देखी और उस में बर्फ का शिवलिंग भी देखा । वह बहुत ही चकित हुआ । वह इस गुफा में एक कबूतरों का जोड़ा देखकर और भी अधिक चकित हुआ क्योंकि आस-पास वहां कोई भी पक्षी दिखाई नहीं देता था । मटन पहुंचकर उसने वहां के पंडितों-ब्राह्मणों को यह बात बताई । उन्होंने इस स्थान के विषय में सुना हुआ था लेकिन वे न तो वहां गए थे न ही वहां का मार्ग जानते थे । इसके पश्चात् वे मलिकों के साथ उस गुफा तक पहुंचे और उसके दर्शन किए । यों यात्रा पुनः आरम्भ हो गई । मलिकों ने इस यात्रा के यात्रियों को पथ-प्रदर्शन सुरक्षा तथा सुविधाए प्रदान करने का दायित्व अपने पर ले लिया । मटन के पंडितों से भी तथा इस यात्रा के लिए यात्रियों से कर लिया जाता था । प्राचीन काल में ऐसी परंपरा थी । इस के अतिरिक्त यात्री

अमरनाथ पर भगवान शिव को भेंट भी चढ़ाते थे। इस आय से मलिकों को बराबर का हिस्सा मिलता था। अब यात्रियों से कोई कर नहीं लिया जाता लेकिन जो पूजा-अर्पण की राशि, सोना, चांदी, वस्त्र, नकद आदि लोग भेंट करते हैं उस पर इन दो वर्गों के अतिरिक्त और दो भागीदार हैं। धर्मार्थ ट्रस्ट और वह मठाधीश जिसकी अगवानी में श्री अमरनाथ स्वामी की छड़ी अथवा ध्वज होता है जो यात्रियों की अगवानी करता है।

प्राचीन काल में कश्मीर के राजाओं-महाराजाओं ने ऐसे अधिकारी नियुक्त किए होते थे जो राज-मार्गों की रक्षा किया करते थे। इन्हें मार्गेश, मार्गपति अथवा मार्ग अधिपति कहा जाता था। जिसका अर्थ है कि मार्गों के स्वामियों अथवा उच्चाधिकारियों के बिना कोई भी यहां नहीं आ सकता था जब तक सम्बन्धित परगने का मार्गेश आज्ञा नहीं देता था। मार्गेश का कर्तव्य था मार्ग साफ रखना ताकि यात्रियों को कोई कष्ट न हो, और चोरों, डाकुओं तथा शत्रुओं का सफाया करना। ये मुलाज़िम मुस्लिम सुल्तानों के भी बहुत देर तक रहे। बाद में इनके पदों के नाम धीरे-धीरे बदल गए। कुछ लोग इन्हें मागरे और मलिक कहने लगे। अमरनाथ यात्रा के मलिक भी शायद प्राचीन समय के मार्गेश ही थे। ये लोग परिस्थितियां बदलने के बाद भी यात्रियों को सुरक्षा और सुविधाएं प्रदान करते रहे।

स्वामी अमरनाथ जी की यात्रा करने का उद्देश्य अमर होने से है। मनुष्य का यह शरीर नाशवान है, यह अमर नहीं हो सकता। लेकिन सभी दीन-धर्म, अवतार, पीर पैगम्बर कहते हैं कि आत्मा अमर है। अतः यात्रा का उद्देश्य है व्यक्ति स्वयं वह ज्ञान प्राप्त करे जिस से इस जीवन में वह झलक मिले जिससे मन में स्थिरता आ जाए। इससे व्यक्ति में घृणा, स्वार्थपरता समाप्त हो जाए और व्यक्ति सभी दुर्बलताओं पर नियन्त्रण पा ले। जो व्यक्ति अपने में और दूसरे में भेद न समझे वही प्रकाश प्राप्त कर अमर हो सकता है। इसलिए व्यक्ति को अपनी दुर्बलताओं को वश में करना तथा मन की मैल को दूर करना होगा। यह यात्रा व्यक्ति को आत्म-संयम तथा आत्म-विश्वास पैदा करने में एक मुख्य भूमिका निभाती है। तन-मन की स्वच्छता, शुद्धता प्राप्त करने के लिए यह प्रथा है कि पावन नदियों में स्नान करना, पूजा करना, संयम, मित-भोजन करना तथा निर्धनों को दान देना चाहिये।

अतीत में यात्री सब से पहले बट्टयार में स्नान करते थे। उसके बाद गनपतयार, शुरा धार, शिवपुर, पांदरेठन, पांपुर सियदयार, बारस, जिवबरूर, मन्नवन, अवन्तीपुर, मिहरनाग, संगम, बाल्यार, वागहुम हसखन, चक्रधर, देवकीयार, चन्दनयार, श्री गुफावाडर, लदीअल सिरहउम, बधुर, कमलनाग, वतडरनाग, सलर आदि तीर्थस्थानों पर स्नान करने से मन की शुद्धि होती

है। इसके बाद नारायण तीर्थ, गंनीशबल, मामलभरगो तीर्थ, नील गंगा, चन्दनवर आदि।

आजकल इस का सफ़र पहले समय से बहुत आसान है। सामान्य रूप से यात्री बसों द्वारा पहलगाम पहुंचते हैं। स्वामी अमरनाथ जी की पावन छड़ी श्रावण शुक्लपक्ष चतुर्थी के दिन श्रीनगर के दशनामी अखाड़े से पूजा-पाठ करने के बाद चलती है। इसके साथ-साथ सरकार के उच्चाधिकारी, धर्मार्थ के अधिकारी, पुलिस तथा बहुत से साधु दल चलते हैं। छड़ी के सेवक इसे धीरे-धीरे चल कर पहुंचाते हैं। यात्रा के पहले दिन वे श्रीनगर से पांपुर पहुंचते हैं। दूसरे दिन बीजबिहाड़ा, फिर मटन, ऐशमुकाम और पहलगाम। वहां पहुंच कर वे दो-तीन कदम रुक जाते है, उस स्थान को आजकल साधु-पड़ाव कहते हैं। इसी बीच आगे पर्वतीय यात्रा की तैयारी करते हैं। इसी बीच दूसरे यात्री भी बसों द्वारा वहां पहुंच जाते हैं। पहले समय में पहलगाम में बहुत कम घर थे। लोग खेमों में रहते थे। इस अवसर पर पहलगाम खेमों का नगर बनता था। अब बहुत से मकान बने हैं, लेकिन फिर भी यात्री खेमों में रहना पसन्द करते हैं। पहलगाम से निकलकर आगे चन्दनवाड़ी, वावज़न और पंचतरणी के पड़ाव आते हैं। वहां यात्री एक-एक रात बिताते हैं। इन स्थानों पर भी बहुत से शैड बने हैं। लेकिन पहले इन स्थानों पर सर्दी, वर्षा और बर्फ से बचने के लिए केवल खेमें ही होते थे। क्योंकि पहलगाम से आगे बसें नहीं जातीं, यात्री अपना सामान घोड़ों पर लादकर ले जाते हैं। कुछ लोग स्वयं ही घोड़ों अथवा पालकियों में बैठकर जाते हैं। यों यात्रियों के साथ अनेकों घोड़े, घोड़ों के स्वामी, तथा मजदूर भी होते हैं। प्रत्येक पड़ाव पर पूरा बाजार सा लग जाता है, जहां यात्रियों तथा उनके साथियों को आवश्यक वस्तुएं हर समय मिलती हैं। श्रावण शुक्ल पक्ष की द्वादशी को यात्री बहुत सवेरे तीन बजे चन्दनवाड़ी की ओर प्रस्थान करते है। सबसे आगे चांदी की छड़ी अगवानी करती है। उसके पीछे-पीछे साधु तथा यात्री चलते हैं। ये आधी रात को बर्फ जैसे शीतल जल में स्नान करते हैं और पड़ाव से प्रस्थान से पहले पूजा तथा आरती करते हैं। शंखनाद होते हैं और यात्री ज़ोर-ज़ोर से जयघोष करते हैं...'अमरनाथ स्वामी की जय, हर-हर महादेव की जय' आदि। पहलगाम और चन्दनवाड़ी तक थोड़ी-थोड़ी चढ़ाई है। यात्रियों को पहले दिन बहुत चाव होता है। कुछ इसलिए भी कि अन्धेरे में यात्रा करते समय कुछ कठिन नहीं लगता। एक-दो मील चलने पर उनकी सांस फूलने लगती है फिर वे मार्ग में विश्राम करने के लिये रुक जाते हैं। इतने समय तक पूरा प्रकाश हो जाता है। यात्रियों को पूर्ण अनुमान हो जाता है कि कितने पर्वतों तक चढ़ना है फिर भी पहले दिन कमज़ोर यात्री भी साहस करके आगे चलते हैं।

छड़ी के साथ-साथ यात्री तीन-चार घंटों में चन्दनवाड़ी पहुंचते हैं और

वहीं रात व्यतीत करते हैं। शेष यात्री भी वहीं ठहरते हैं। घंटे भर में यह स्थान खेमों का नगर बन जाता है। बाजार में कच्ची तथा पक्की वस्तुएं मिलती हैं। यहां चीनी, मिट्टी का तेल, लकड़ी आदि वस्तुएं मिलती हैं। यहां मैजिस्ट्रेट, पुलिस, इन्जीनियर तथा डाक्टर साथ होते हैं। सफ़ाई का प्रबन्ध होता है। यात्री स्नान और पूजा-पाठ करते हैं, वहां कीर्तन में शामिल होने जाते हैं, जहां पवित्र छड़ी होती है। कुछ लोग इधर-उधर प्रकृति के दृश्य देखने जाते हैं।

चन्दनवाड़ी का स्थान थोड़ी ऊंचाई पर है लेकिन समतल है। इसके दाएं-बाएं बर्फ के पानी की नदियां पांवों को छूती हैं, और यों लगता है मानों मोत्र पर्वत देव पांव फैलाए बैठा हो। यहां तीनों ओर ऊंचे-ऊंचे पर्वत हैं जहां बीहड़ जंगल हैं। यहां बर्फ की बड़ी-बड़ी चट्टानें फैली हैं जिनके नीचे वह नदी बहती है जो शेषनाग से निकलती है। इसे बर्फ का पुल कहते हैं। खेल-कूद में रुचि रखने वाले यात्री उस पर फिसलते हैं और खेलते हैं। लेकिन साधारणतः यात्री अपने दूसरे कामों में व्यस्त रहते हैं जिस दिन उन्होंने पिस्सू घाटी पर्वत पर चढ़ना होता है। इस पर्वत की चढ़ाई कठिन है जो समतल से 110° डिग्री पर है, मार्ग बहुत संकरा है। मोड़-बहुत हैं। पहाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते सांस फूल जाती है, कमर झुक जाती है और गला सूखने लगता है। पीने को पानी कहीं नहीं मिलता, यात्री, मरकबान, घोड़े, मजदूर और पालकियां उठाने वाले आदि यों चलते हैं जैसे एक लम्बी सड़क हो। अश्वारोहियों को यों लगता है कि वे घोड़ों से गिर पड़ेंगे। पालकियों में बैठे यात्रियों को भय लगता है कहीं उनकी हृदय-गति न रुक जाए। ऐसी स्थिति में यदि वर्षा हो जाए, जैसा कि ऐसे स्थानों पर प्रायः होता है, कीचड़ के कारण पैदल चलने वालों तथा घोड़ों के स्वामियों को फिसल जाने का डर होता है। इस मार्ग से चलना बहुत कठिन हो जाता है।

पिस्सू घाटी का पर्वत अधिक ऊंचा नहीं है। उसकी चोटी अधिक से अधिक 3200 मीटर होगी। लेकिन चढ़ाई कठिन है। जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाएं पेड़ धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और पक्षी कोई बिरला ही दिखाई देता है। अभ्यस्त लोग प्रायः यात्रियों को धैर्य देते हैं—"या पीर, दस्तगीर" कमर मजबूत करके खुदा को याद करके आगे चलो, आगे बढ़ो। अमरनाथ स्वामी जी पर विश्वास करने वाले जयघोष करते हैं…"हर हर महादेव…अमरनाथ स्वामी जी की जय, शिव हरे…।" यह सुन कर हृदय को धैर्य होता है। ऊपर पहुंच कर एक और टुकड़ी मिलती है। यात्रियों को भिखारी मिलते हैं। वे दान लेकर यात्रियों की मंगल-कामना करते हैं। तन मन के लिए मंगलकामना करते हैं। 'खुशी से आओ, खुशी से जाओ…बाल-बच्चे सकुशल रहें' वहां पहुंचकर यात्री प्रसन्न होते हैं। थोड़ा विश्राम कर आगे बढ़ते हैं।

पिस्सू घाटी के पहाड़ की चढ़ाई बहुत कठिन है लेकिन युवा लोगों की सेवा करने के लिए कई बार चढ़ते हैं। ये चन्दनवाड़ी से पीने का पानी लाते हैं। मार्ग में अथवा ऊपर चढ़कर यात्रियों को पानी पिलाते हैं। इस प्रकार वे कई बार पानी और चाय आदि ले आते हैं। मैं पहली बार 1938 में अमरनाथ की यात्रा करने के लिए गया। मुझे याद है कि पिस्सू घाटी के पर्वत पर सरदार जोगिन्दर सिंह (जग्गू सिंह जो एस० पी० कालेज का प्रसिद्ध खिलाड़ी और स्काऊट था, वह यात्रियों को पानी पिलाया करता था। वह पानी की दो-दो बाल्टियां हाथों में लिए पिस्सू घाटी के पहाड़ पर दौड़-दौड़ कर चढ़ता था जैसे उसमें एक टैंक जैसी शक्ति थी। यह वीर जग्गू आज भी बहुतों को याद होगा। 1939 ई० में युद्ध हुआ और यह सेना में लैफ्टीनेंट बन गया। इसे अफ्रीका भेजा गया। वहां से लौट कर नहीं आया।

इस पर्वत का नाम पिस्सू क्यों पड़ा। यह नाम संस्कृत के पेशगरी शब्द से निकला है। पिस्सू शब्द का अर्थ क्या है? इस विषय में कहा जाता है कि देवता तथा राक्षस दोनों चन्दनवाड़ी के समीप भगवान शिव के दर्शन करने एक साथ पहुंचे। राक्षसों ने कहा पहले हम दर्शन करेंगे और उन्होंने हठ करके इस पर्वत पर चढ़ना शुरू किया। देवताओं ने उनका सामना किया और उन्हें पीस कर रख दिया। वे इसी पर्वत में समा गए इसलिए तब से इस पर्वत का नाम 'पिस्सू' पड़ गया।

पिस्सू घाटी के पर्वत से आगे चल कर जंगल नहीं है। कहीं-कहीं ब्रुज के दो-तीन पेड़ दिखाई देते हैं, लेकिन पर्वत हरे-भरे हैं। इन पर कई प्रकार के पुष्प हैं। मार्ग ऊंचाई वाला है और नदी नीचे बहती है। वहां से उतरना कठिन है क्योंकि आगे पहाड़ों की चढ़ाई कठिन है। 1946 में मैं पुन: अमरेश्वर गया। अमर सिंह कालज के स्काऊट मेरे साथ थे। इनमें वज़ीर हरिकृष्ण भी था। यह बहुत ही उत्तम हाकी का खिलाड़ी था और बहुत चुस्त दौड़ने वाला था। हम पिस्सू पर्वत से थोड़ा आगे चले ही थे कि एक मरकबान के घोड़े ने ज़िद करके अपने ऊपर लदे बोझ को नीचे फेंक दिया। उसकी भारी बोरियों का यह बोझ फिसलता-फिसलता बहुत नीचे नदी के पास जा पहुंचा। मरकबान को बहुत दु:ख और चिन्ता हुई लेकिन कौन साहस करता। वह कैसे इतनी चढ़ाई से नीचे उतर कर उन बोरियों को ऊपर लाता। पुलिस भी उसकी कोई सहायता न कर सकी। इतनी देर में वहाँ वज़ीर हरिकृष्ण पहुंचा। उसने शीघ्र ही अपना जूता उतारा और नंगे पाँव झाड़ियों को पकड़ता हुआ उस स्थान पर उतरा जहां वे बोरियां पड़ी हुई थीं। इसके पीछे दूसरा स्काऊट था। वे बोरियों को जैसे-कैसे घसीट कर ऊपर ले आए। बहुत से लोग इनके साहस का काम देख कर चकित रह गए और इन्हें शाबाशी दी। दुर्भाग्य से दो-तीन वर्षों के बाद हरिकृष्ण को गोली लगी और वह इस संसार से चला गया।

यात्री उस दिन बावजन पहुँचते है। वहां तक का मार्ग लगभग समतल है। कहीं-कहीं थोड़ी-थोड़ी चढ़ाई भी है। मार्ग में हरियाली भी आती है। लेकिन सबसे मनोरम दृश्य शीशरमनाग का है इस चश्मे के चारों ओर पर्वत हैं और यह मध्य से मदिरा के प्याले की भांति है। यहां लोग स्नान करके पाठ-पूजा करते हैं। कल्हण के कथनानुसार इसका वास्तविक नाम ससुरम नाग (ससुर का नाग) हैं और इसके साथ पीछे दामाद का नाग है। ये नाम कैसे पड़े, इस विषय में राजतरंगिणी की दूसरी तरंग में जहां राजा नर का वर्णन है। यह कहानी यों हैं—

राजा नर ने एक अति सुन्दर स्त्री देखी, जिसका नाम चन्द्रलेखा था। राजा ने प्रयास किया कि उसे किसी प्रकार अपने महल में ले आए। उसका विवाह एक वैशाख नाम के ब्राह्मण से हुआ था और यह नाग-कन्या थी। इसके पिता का नाम सरोस था। जब विशाख ब्राह्माण को राजा की कुटिल नीति का पता चला, वह पिछवाड़े के मार्ग से भाग कर अपने ससुर के पास पहुंचा। सरोस ने प्रलय ला दी बिजली चमकी, बादल गरजे और वज्रपात हुआ। बड़े-बड़े पत्थर गिरे। इस प्रकार नर मर गया और उसका भवन नष्ट हो गया। इसके बाद यह नाग अर्थात् चन्द्रलेखा का पिता दुःखी हुआ। भाग कर उसने अपना नया घर पिस्सू घाटी के पर्वत की दूसरी ओर अमरेश्वर के मार्ग में बनाया। उसका नाम ससुरम नाग पड़ा। जिसका नाम धीरे-धीरे शेषनाग हो गया। वैशाख भी नाग (चश्मा) बन कर 'दामाद का चश्मा' नाम से वहीं रहा। लेकिन अमरनाथ का महात्मा बताता है कि राक्षस का विनाश करने के लिए भगवान विष्णु ने यह स्थान शेषनाग को दे दी। कहा जाता है कि शशरम नाग का अर्थ है वह स्थान जहां लोग सुख से रहते हों।

श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को यात्री वावजन में रहते हैं। इसे वायु वर्जन कहते थे। क्योंकि वहां वायु-रूप धारण किए एक राक्षस को मारा गया था। यह पर्वत शेष नाग से एक किलोमीटर हट कर है और इसकी ऊंचाई 3500 मीटर के लगभग है। मौसम सुहावना होता है लेकिन चारों ओर सूनापन होता है। यहां न कोई पेड़-पौधे अथवा न ही किसी प्रकार के फूल देखने को मिलते हैं। यहां शीत एवं तीव्र हवा हर समय चलती रहती है जो व्यक्ति की हड्डियों को सुन्न कर देती है। कहा जाता है वहां एक भयानक राक्षस हवा के रूप में आया था। इसने घोर तपस्या करके भगवान िव को प्रसन्न किया और महान शक्ति प्राप्त की। इसके बाद उसने देवताओं को बहुत भयभीत किया। सभी देवता भगवान् शिव की शरण में गये। उन्हें भगवान् ने कहा, "मैंने इस राक्षस को इतनी शक्ति दी है कि मैं इसका वध नहीं कर सकता। आप भगवान् विष्णु के पास जाएं।" वे गये और भगवान् विष्णु पर उनकी विनती का बहुत प्रभाव हुआ। भगवान् विष्णु ने नागराज शेषनाग को भेजा।

इस नागराज ने अपने सहस्रों सिर बाहर निकाल लिए और उस वायु को अपने में समा लिया। इसके बाद देवता बहुत सुख-शान्ति से रहने लगे। उस हवा का यात्रियों पर प्रभाव पड़ता है। आज भी यात्री छोटे-छोटे पत्थर बटोर एक छोटी झोंपड़ी बनाते हैं। उसमें पैसे, चावल आदि रखते हैं और पूजा करते हैं। तात्पर्य यह है कि हवा चलने पर वे इसमें छुप सकते हैं। दूसरा सुन्दर स्थान अस्थानमरग है। वहां भी पर्यटक आते हैं। 1883 में वहाँ लार्ड रिप्पन जो भारत का वायसराय था, शिकार खेलने आया था।

बावज़न में रात्रि व्यतीत करने का चतुर्दशी पर बहुत सवेरे-सवेरे यात्री आगे बढ़ते हैं। उस दिन इन्हें पंचतरणी पहुंचना होता है। महांगुनस का पर्वत रास्ते में आता है जो इस यात्रा के मार्ग में सबसे ऊंचा है। इसकी ऊंचाई 6100 मीटर तक होगी। इसकी चढ़ाई पिस्सू घाटी की भांति कठिन नहीं। लेकिन इतनी ऊंचाई चढ़ते समय यात्रियों की सांस फूलने लगती है और कई मूर्छित हो जाते हैं। महांगुनस पर्वत पर चढ़ते समय यात्रियों को बहुत भय होता है और बार-बार वे नारे लगाते हैं—हर हर महादेव…भगवन शंकर की जय…अमरनाथ स्वामी की जय। यहां चारों ओर कई प्रकार की घास तथा जड़ी-बूटियां हैं। ज्यों ही सूर्योदय होता है, ओस के कण धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं। यात्री पहले ही कुछ सहमे से होते हैं—कुछ तो पर्वत की ऊंचाई के कारण तथा कुछ थकावट से और मार्ग की भयंकरता से। जब कुछ यात्री हड्डियों को चीरती हवा के कारण मूर्छित हो जाते हैं तो इन्हें 'अशुद्ध' (आंखों) का रोग लग जाता है। पुराने समय में यात्री अनारदाने अथवा अमचूर की चटनी साथ ले जाते थे जिससे मूर्छित व्यक्ति होश में आ जाता था। अब तो डाक्टर तथा स्वयंसेवक जगह-जगह दवाइयां साथ ले जाते हैं। यों संक्रमण का भय नहीं रहता।

महांगुनस के पर्वत के शिखर से मनोरम दृश्य दिखाई देता है। चारों ओर पर्वतों पर दूधिया-सफेद बर्फ की चादर बिछी होती है। स्वच्छ एवं शुद्ध हवा चलती है। हल्के नीले आकाश में कहीं-कहीं बादलों के टुकड़े, सूर्योदय की बहुरूपी छटा और फूलों पर चमकते ओस-कण मोतियों से लगते हैं। प्रकृति का ऐसा मनोरम रूप-लावण्य बहुत ही कम लोगों को देखना नसीब होता है। यहां कई प्रकार की जड़ी-बूटियां भी होती हैं। सामने की ओर देखो तो उतरते हुए पर्वत। जब मौसम ठीक हो तो यात्री प्रसन्न-चित्त पर्वत से नीचे उतरते हैं और पंचतरणी पहुंच कर थकान उतारते हैं। यह स्थान बाल्टी के तले की भांति समतल है। यहां से गुजरते समय नदी पार करनी पड़ती है। इसलिए नाम पंचतरणी पड़ा है। कहा जाता है कि जब शिवजी महाराज ताण्डव-नृत्य करते थे तो उनकी जटाएं पांच लटों में छितरा गईं। उनकी शीश गंगा इन लटों

द्वारा बहती है और यही पांच नदियां बनती हैं जिनका नाम पंचतरणी पड़ा। वहाँ पर हैलीपैड बनाना सरल है। चतुर्दशी के दिन यहां हज़ारों की संख्या में यात्री और मरकबान (घोड़े वाले) तथा घोड़े आदि रहते हैं और बहुत चहल-पहल होती है। भजन-कीर्तन की मण्डलियां बहुत उत्साह से कीर्तन करती हैं। क्योंकि दूसरे दिन प्रातः गुफा में पहुँच कर स्वामी अमरनाथ के दर्शन करते होते हैं।

दूसरे-दिन पूनम की प्रातः को तीन बजे ही लोग तैयार रहते हैं । पवित्र छड़ी की पूजा होती है। यात्री आगे बढ़ते हैं। लगभग आधा किलोमीटर चलकर 'दोमेल' पहुँचते हैं। जहां दो नदियों का मेल होता है । एक जल वह जो पंचतरणी से बहता है, दूसरी वह नदी जो अमरनाथ स्वामी की गुफा का जल अपने साथ मिलाती हुई नीचे को बहती है। इसे अमर गंगा कहते हैं। इन दो नदियों के संगम का जल बालतल की ओर बहता है और वहाँ 'सअध' नदी में मिलता है।

दोमेल (दो नदियों के संगम का स्थान) पहुंच कर यात्री दाईं ओर नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ते हैं जहां अमरनाथ जी की गुफा है। यह चढ़ाई कठिन है और सर्दी भी बहुत होती है। चारों ओर बर्फ़ होती है और मार्ग भी संकरा है। लेकिन यात्री साहस करके आगे बढ़ते जाते हैं क्योंकि उनकी मंज़िल अब समीप होती है—केवल चार किलोमीटर। जितना वे आगे बढ़ते हैं उतना उन्हें सन्तोष मिलता है। वे जयघोष करते हैं—स्वामी अमरनाथ की जय··· । अन्त में वे गुफा के समीप पहुंचते हैं। थोड़ा विश्राम करते हैं, फिर ऊपर गंगा के किनारे बर्फीले जल में स्नान करते हैं, वस्त्र बदलते हैं और गुफा की ओर चढ़ना शुरू करते हैं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में भस्म लगा कर नंगे साधु ताण्डव नृत्य करते हुए गुफा में प्रवेश करते थे अथवा केवल भोज-वस्त्र पहन कर प्रवेश करते थे—बहुत श्रद्धा तथा भक्ति से पूजा-पाठ करके अपना सर्वस्व भगवान शिव के अर्पण करते थे—सोना, चांदी, नकदी, कपड़े, नारियल, फल आदि वहां की मिट्टी को यात्री माथे पर लगाते हैं—जैसे भगवान शिव के चित्रों में उनके माथे पर लगी होती है। इस गुफा की ऊंचाई समुद्र से 3800 मीटर है। वहां सामान्यतः कोई जीव-जन्तु नहीं रहता, लेकिन उस दिन उस गुफा से एक कबूतरों का जोड़ा निकलता है जिसे देखकर यात्री बहुत प्रसन्न होते हैं। जब तक वे कबूतरों के इस जोड़े को नहीं देख लेते तब तक उन्हें अपनी यह यात्रा सफल नहीं लगती। वे कबूतर क्या खाते हैं और कहां से आते हैं यह एक रहस्य है। कहा जाता है कि वास्तव में अमरेश्वर महाराज के सेवक कबूतरों के रूप में आते हैं और भक्तों को दर्शन देते हैं

जैसे कि पहले ही बताया गया है कि इस गुफा की छत से पानी टपकता हैं, जहां पानी की बूंदें गिरती हैं वहां शुक्लपक्ष में एक मूर्ति बनती है।

कभी-कभी दो मूर्तियां भी बनती हैं, अर्थात् शिवजी तथा पार्वती जी की। नहीं तो तीन होती हैं—तीसरी गणेश जी की। इन मूर्तियों की संख्या हर वर्ष एक सी नहीं होतीं। यह संख्या बढ़ती-घटती है। भीड़-भड़क्के में यात्री बहुत प्रयास करते हैं कि इन मूर्तियों के चरण छुएं ऐसा करने से उन्हें मूर्तियों के टूटने का भी भय होता है। इसीलिए मूर्तियों के बचाव तथा सुरक्षा के लिए चारों ओर बाड़ लगाई जाती है।

बहुत से वैज्ञानिक अमरेश्वर गुफा में शोध करने आते हैं कि ये मूर्तियां कैसे बनती हैं, कैसे बढती हैं। कई मत प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ इन्हें stalagmitc/stalactite से जोड़ने का प्रयास करते हैं। लेकिन अभी तक कोई भी सन्तोषजनक अथवा वैज्ञानिक परिभाषा नहीं प्रस्तुत की जा सकी।

लौटते हुए यात्री एक रात पंचतरणी रहते हैं और दूसरे दिन पहलगाम तथा संध्या को श्रीनगर पहुंच जाते हैं। जो लोग सवेरे-सवेरे अमरनाथ जी के दर्शन करते हैं वे पूनम के दिन ही पहलगाम पहुंचते हैं। पहले समयों में यात्री वापसी पर लोधल में श्राद्ध करते थे। लोधल का तीर्थ त्राल के पास है। पहलगाम से मामलेश्वर के समीपवर्ती पर्वत को पार करके त्राल पहुंचा जा सकता है। लेकिन अब पहलगाम से सिटी बसों द्वारा आते हैं।

स्वामी अमरनाथ जी की यात्रा कई रूपों में मन को लुभाती हैं। इसके धार्मिक महत्व को एक ओर रखकर यात्रियों का मन प्राकृतिक मनोरम दृश्य देखकर प्रसन्न हो जाता है। यात्रा मार्ग वितस्ता के किनारे-किनारे आरम्भ होता है। इसके पश्चात् लिद्दर नदी का संगीत सुनते-सुनते व्यक्ति उस हरे-भरे स्थल को पार करता है जिसके दाएं-बाएं भीमकाय पर्वत और घने वन हैं, जो लिद्दर नदी की भांति अठखेलियां करते हैं। आगे चल कर पुष्प-घाटियों से दूध सी नदियां बहती दिखाई देती हैं और पर्वतों के शिखरों पर शुभ्र हिम-खण्ड सूर्योदय के समय झिलमिलाते हैं। चारों ओर बर्फ के मैदान, चश्में और सरोवर हैं। कई प्रकार के पुष्प हरियाली, चित्त को प्रसन्न करने वाली हवा और पानी के प्रपात व्यक्ति पर ऐसा जादू करते है जिससे वह निजी स्वार्थ तथा भौतिकता को भूल जाता है और मानव-एकता, प्रेम-प्यार उसके मन में फूट पड़ता है। इतना ही नहीं, अपितु मन—मस्तिष्क पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसकी व्याख्या शेक्सपीयर की भाषा में sermons in stones and books in runing brooks' नज़र आती है। व्यक्ति को ऐसे वातावरण में न केवल घृणा ही भूल जाती है अपितु सारी प्रकृति से एक घनिष्ठ सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है जो कि एक परिवार में होना आवश्यक है।

अमरेश्वर यात्रा कई पड़ावों में करनी होती है और मार्ग में जितने भी तीर्थ आते हैं उन स्थानों पर स्नान तथा पूजा करना भी आवश्यक है।

पहले समय में बहुत से यात्री दिन के समय व्रत धारण करते थे। वे शक्करपारे, सिंघाड़े का आटा आदि साथ लेकर चलते थे। रात के तीन बजे वे उठते थे, स्नान आदि से निवृत्त हो कर पूजा-पाठ करते और जलपान करके नये पड़ाव की ओर चल पड़ते थे। वहां पहुंच कर पुन: स्नान करते थे और पूजापाठ के बाद भोजन तैयार करते थे। यों यात्रा करने में बहुत परिश्रम करना पड़ता था लेकिन उनके पास अवकाश बहुत होता था और धैर्य भी। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते थे, घर-गृहस्थी के झंझट तथा दुनिया के झगड़े-बखेड़े कुछ समय के लिए बिल्कुल भूल जाते थे। भक्ति-भाव तथा मानवता जिसका हमारे दिलों में अभाव है, यहां पुन: प्रकट होती प्रतीत होती है। यहाँ प्रकृति का मनोरम रूप, शुद्ध हवा तथा निर्मल जल, नाना प्रकार की जड़ी-बूटियां तथा अनेक प्रकार की घास आदि के माणिक मिलते है और पौष्टिक भोजन। रमणीय वातावरण में व्यक्ति स्वार्थ से दूर हटकर अपने वास्तविक अस्तित्व को पहचान सकता है। अमरनाथ महात्मा कहते हैं कि जो व्यक्ति अमरेश्वर की यात्रा करेगा वह इस संसार में रह कर भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि उस पर सांसारिक दु:ख-सुख का कोई प्रभाव नहीं होता। वह निष्काम तथा निर्मल रहता है। जिन्हें इस प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है वे बार-बार यह कठिन यात्रा करते हैं।

मुझे अब भी वह व्यक्ति याद है जिसे मैंने बचपन में देखा था। उसने सैंतीस बार अमरनाथ की यात्रा की थी। वह कहता था कि वह तब तक यात्रा करता रहेगा जब तक उसके शरीर में प्राण हैं। उस व्यक्ति को किसी वस्तु का कोई प्रलोभन नहीं था। अपितु उसके चेहरे से उसके मन की शान्ति का साक्षात्कार होता था।

लेकिन आज समय बदल गया है। लोगों के पास इतना समय नहीं। वे द्वादशी तिथि को सवेरे पहलगाम पहुंचते हैं और उसके बाद चन्दनवाड़ी। अथवा श्रीनगर से एक दिन में वावजन या पंचतरणी पहुंचते हैं। यह बात स्पष्ट है कि ऐसे जल्दबाज़ यात्री पर्वतों, पुष्प-घाटियों, तालाबों आदि के बदलते वातावरण का लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि इनके मन पर घर, दफ्तर तथा व्यवसाय आदि का बोझ रहता है। अब ऐसे लोगों के लिए अधिक सुविधाएं हैं। वे बस द्वारा कंगन और सोनमरग के बाद बालतल पहुंचते हैं। वहां से बारह किलोमीटर दोमेल तक का रास्ता है। उसके बाद गुफा तक चार किलोमीटर है। यदि कोई टैक्सी ले कर जाए तो वह एक दिन में यात्रा करके संध्या तक श्रीनगर वापस पहुंच सकता है। इसे Crash Pilgrimage कहा जा सकता है। साठ वर्ष पहले पंडित आनन्द कौल बामज़ई ने इस बात की ओर संकेत किया था जो आज सच हो गई है।

लोगों की यह इच्छा होती है कि पूजा-पाठ और भक्ति करने से उनकी सांसारिक समस्याओं का निवारण होना चाहिए। मालूम नहीं अमरेश्वर की

यात्रा करने से उन्हें इस प्रकार का कोई अच्छा फल मिलता भी है ? इस विषय पर कोई मत नहीं व्यक्त कर सकता। मैंने पहले 1936 में यात्रा की थी। इसके बाद माडर्न रिवियू (Modern Review) में इस यात्रा सम्बन्धी मेरा एक लेख छपा था जिसमें चित्र भी दिए गए थे। यह पत्रिका कलकत्ते से अंग्रेज़ी में छपती थी तथा उच्च स्तरीय पत्रिकाओं में गिनी जाती थी। यहां मैं उस लेख की कुछ पंक्तियों का अनुवाद देना चाहूंगा।

'नयी वैचारिकता के लोगों की जाने क्या धारणा हो किन्तु इस गुफा को देखने के लिए यात्री दूर-दूर से आते हैं और भगवान भी इनकी इस भक्ति की कद्र करता है। कहा जाता है कि कश्मीर के वर्तमान [अर्थात् 1938 ई० में] महाराजा ने गुफा तक नई सड़क बनवाई क्योंकि इन्हें युवराज प्राप्त हुआ जिसका वरदान इन्होंने इस गुफा में मांगा था। यहां एक कश्मीरी मुसलमान भी आया था। एक मन्त्री और उसकी पत्नी ने इस गुफा में भक्ति-भाव से प्रार्थना की कि उनके घर सन्तान हो। जब उनके घर सन्तान हुई तो वे दोबारा धन्यवादी के रूप में गए। एक बंगाली युवक ईसाई प्रोफ़ैसर जिसने ओक्सफ़ोर्ड में उच्च-शिक्षा प्राप्त की थी (यह सैंट स्टीफ़न कॉलज दिल्ली में प्रोफ़ैसर था) यात्रा के बाद निमोनिया का शिकार हो गया। उसने मरने से पहले यह सन्देश लिखवाया।

'मैं अपने सभी मित्रों से कहना चाहता हूं कि मैं यात्रा पूरी करके इस दुनिया से जा रहा हूं··· ।'

किन्तु अमरेश्वर की यात्रा लोग धार्मिक सन्तुष्टि तथा शान्ति प्राप्त करने को करते हैं। एक अंग्रेज़ पर्यटक ने अपनी भावना इस प्रकार प्रकट की है—

'प्रकृति का दृश्य इतना शोभनीय, मन को आकर्षित करने वाला और प्रभावित करने वाला है कि यहां पहुंच कर व्यक्ति को लगता है जैसे वह प्रकृति के स्वामी के समीप पहुंच गया है।'

ऐसी भावना साधु-सन्यासियों, सूफ़ियों तथा गुनी-ज्ञानी व्यक्तियों ने अपने-अपने ढंग से प्रकट की है।

कोह-वा-दरिया ग़रूब आफ़ताब
मन खुदा रा दीदम आं जा बेहजाब

(इकबाल)

शिवशक्ति एक नाम रूप भिन्न-भिन्न
स्वयं अर्थ समझ, और स्पष्ट क्या कहूं
परमानन्द अपने आप आता है
मन को स्थिर कर और प्रभु की पूजा कर

(परमानन्द) □

अनु० दीदार सिंह

व्यथ
(जेहलम)

□ मोहन लाल आश

कश्मीर के सामाजिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन आयाम व्यथ के पानियों से पोषित हुए हैं। व्यथ केवल एक नदी ही नहीं अपितु कश्मीर की मिट्टी की सुगंधि है जो कश्मीर को अपनी अन्यतम विलक्षणता प्रदान करती है। व्यथ का वास्तविक नाम 'वितस्ता' (जेहलम) है जो समय व्यतीत होने के साथ-साथ बिगड़ कर व्यथ बन गया। व्यथ का विवरण वेदों में मिलता है और व्यथ भारत की पवित्र नदियों में गिनी जाती है।

भूगोल शास्त्रियों का कहना है कि व्यथ प्रारम्भिक काल में दक्षिण की ओर बहती थी। बाद में एक भारी भूकम्प आया जिस से पीर पंचाल अस्तित्व में आया। इस पर्वत ने व्यथ की गति को रोक दिया और पानी ने दक्षिण की अपेक्षा उत्तर-पश्चिम की ओर बहना आरम्भ कर दिया। क्योंकि जल के निकास का कोई मार्ग न था अत: पानी का बहुत बड़ा भण्डार जमा हो गया और इसका नाम सतीसर पड़ गया। इसी सतीसर का जल खदनियार के समीप पहाड़ी के कटने से आगे बहने लगा और भूमि पुन: दिखाई देने लगी। इस सारी प्रक्रिया को लाखों वर्ष लग गए। भूगोल शास्त्री इस तथ्य के प्रमाण-स्वरूप कहते हैं कि हिमालय पर्वत अब तक दो पर्वतों में से सबसे कम आयु का है और हिमालय पर्वत से ऐसी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जो इन बातों का अधिक प्रमाण प्रस्तुत करती है कि हिमालय पर्वत एक समय जल के नीचे था। यह व्यथ के विषय में भूगोल शास्त्रियों का मत था।

दूसरी ओर व्यथ के विषय में असंख्य ऐतिहासिक तथा अर्ध-ऐतिहासिक लोक-कथाएं और धार्मिक सन्दर्भ मिलते हैं जिन से यह ज्ञात होता है कि वितस्ता के जन्म से कई ऐतिहासिक तथा अर्ध-ऐतिहासिक सन्दर्भ जुड़े हुए हैं जिन्होंने हमारी सभ्यता को एक भरपूर एवं प्रभावशाली रूप-रेखा प्रदान की।

'वितस्ता माहात्मय' व्यथ की महानता और इसके भूगोल के प्रति सब से बड़ी और प्राचीन पुस्तक है। इस पुस्तक का पहला अध्याय केवल व्यथ के जन्म सम्बन्धी विस्तारपूर्वक विवरण है। उदाहरण—'जिस समय कश्यप ऋषि ने सतीसर का जल समाप्त किया तो यहां जल का काल पड़ गया। सभी लोग देव तथा ऋषि दु:खी हो गए। अन्त में ये ऋषि तथा देवता कश्यप ऋषि के साथ 'शीतसोम' नामक हिम-पर्वत की ओर चल पड़े और वहीं उन्होंने चन्दन के एक वृक्ष से टेक लगाए शंकर महादेव को ध्यान मग्न देखा। इन ऋषियों ने महादेव की स्तुति आराधना आरम्भ की बहुत ही नम्रता प्यार तथा लग्न से महादेव ने नेत्र खोले और अपने सम्मुख सतत् अश्रुओं की झड़ी लगाए ऋषियों तथा देवताओं को देखा। शंकर ने कहा 'ऐ तपस्वियो तथा ऋषियो! आपका इधर आना व्यर्थ नहीं जाएगा।' फिर शंकर ने उसी समय पार्वती को आदेश दिया—'यदि तू मेरी प्रिय है तो तुम्हें पृथ्वी की स्वच्छता और पुनर्आवास के लिए नदी के रूप में प्रकट होना पड़ेगा।' इतना कह कर शंकर ने भूमि में त्रिशूल मारा और एक चश्मा फूट पड़ा जिसमें से पार्वती नदी के रूप में प्रकट हुई। महादेव ने इस जल का नाम वितस्ता रखा।'

कहते हैं जेहलम नगर (पाकिस्तान में) पहुंचने पर इसका नाम जेहलम पड़ गया। परन्तु यह बात शोध करने पर सच सिद्ध नहीं होती क्योंकि प्राचीन इतिहासकारों, जैसे श्रीधर और जोनराज ने भी इस नदी के साथ जेहलम शब्द का प्रयोग किया है।

व्यथ के जन्म स्थान का नाम 'व्यथ वतुर' है जो कि पीरपंचाल के पास रमणीय स्थल पर एक चश्मा है और व्यथ का पितृ घर वैरीनाग हुआ जिसे 'वराह नाग' कहा गया है। इस स्थल से व्यथ एक भंवर की भांति गोलाई में तीव्र प्रवाह के रूप में खन्नाबल पहुंचती है जिसे 'खन्नी तीर्थ' कहा गया है। खन्नाबल में चार स्रोत एक साथ मिल कर व्यथ को बड़प्पन तथा विस्तार प्रदान करते हैं। ये हैं—सांदरन, बरंगियार, हापथ और लिद्दर। खन्नाबल से खादनियार तक व्यथ शील तथा शान्तावस्था में बहती है तथा व्यापारिक दृष्टि से इसके महत्व में वृद्धि हो जाती है। प्राचीन काल में जब यातायात का कोई साधन न था तो सारा व्यापार और सैनिक गतिविधियां इसी व्यथ द्वारा जारी रहती थीं। सामरिक दृष्टि से तथा सैनिक आवश्यकताओं के कारण व्यथ सदैव राज-प्रासादों में चर्चा का विषय बनी रही है। यूनानी विद्वानों ने इसे वितस्ता के बदले हैडसपस (Hydespes) तथा चीनी आलेखों में इसे वितस्ता कह कर ही चर्चा की गई।

कल्हण ने यत्र तत्र इसकी चर्चा की है। वह अति ही सुन्दर ढंग से 'व्यथ वतुर' की चर्चा करता है। 'व्यथ वतुर' का ऐतिहासिक नाम है 'वितशतर'। राजतरंगिणी में ऐसे अनेकों राजाओं की चर्चा की गई है जिन्होंने व्यथ के किनारे

खानकाह, मठ, मन्दिर, धर्मशाला, ऐतिहासिक भवन, घाट, बौद्ध मठ, भिक्षुओं के निवास के लिए बौद्ध खानकाह अथवा आश्रम बनवाए। कश्मीर का सबसे प्राचीन मन्दिर जिसे राजा विजयनन्दन ने ईसा पूर्व 326 में बनवाया और जो ग्यारह मंज़िलें ऊंचा था और जिसमें एक साथ पांच सौ देव-दासियां और कम-से कम एक हज़ार ब्राह्मण काम करते थे, वह इसी व्यथ के किनारे विजेश्वर मंदिर के नाम से प्रसिद्ध था। कश्मीर का पहला विश्वविद्यालय 'विजेश्वर विश्व-विद्यालय' बाग दाराशिकोह आगरा के ढंग पर बनाया गया बाग, जिसे शाहजहां के बेटे ने बीजबिहाड़ा में बनवाया, राजा अवन्ती स्वामन का अवन्ती शिव मन्दिर, ज़ियारत शाह हमदान, सईद हसन शाह मंतकी, ज़ियारत दस्तगीर, स्थान ऋषि पीर श्रीनगर अथवा कोटि तीर्थ बारामूला, तात्पर्य यह कि व्यथ के किनारों पर हमारा आध्यात्मिक जीवन अंगड़ाइयां ले रहा है। बीजबिहाड़ा के रसील चन्द्र घाट, और देवकी यारबल (घाट) ऐसे दो स्थान हैं जहां प्रत्येक उस यात्री का ध्यान जाना अनिवार्य है जो अमरनाथ की यात्रा करने निकला हो।

परहासपुर का ऐतिहासिक महत्व उस समय समाप्त हो गया जब व्यथ ने अपनी दिशा बदली और एक बड़ा नगर लुप्त हो गया। कहते हैं कि कश्मीर की प्रथम अर्ध-ऐतिहासिक पुस्तक 'नीलमत पुराण' की 'व्यथ आगर' अर्थात् वैरीनाग में रचना हुई। 'नीलमत पुराण' कश्मीरियों के बड़े दिनों रीति-रिवाजों तथा सामाजिक एकत्र का एक कैलण्डर है। व्यथ के महान तथा महत्वपूर्ण होने का इस बात से पता चलता है कि इसमें हमारे उत्सवों की चर्चा विस्तार से की गई है। इनमें से तीनों में व्यथ की चर्चा मिलती है। उदाहरणार्थ एक दिन है 'नोहम वितसरा' अर्थात् नये हिमपात का दिन, दूसरा है 'नौ समोतसरा' चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की चौदहवीं तिथि, इस दिन कहते हैं आदम (ब्रह्मा) का जन्म हुआ, इस दिन ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तारागण, शून्य, समय, सात लोक, सात पाताल, बुद्धि, भक्ति, रमज़ां, रूह, पुरुष, पर्वत, वितस्ता (व्यथ) विनायक परी, अष्टदेव की पूजा करनी चाहिए, सम्बन्धियों को भोज पर आमन्त्रित करना चाहिए, स्त्रियों को लाल रंग के वस्त्र रंगने चाहिए। तीसरा है वितस्ता जन्म अर्थात् व्यथ का जन्म दिवस। भाद्र मास के शुक्ल पक्ष की तेरहवीं को यह जन्म हुआ. इस दिन सब को वितस्ता में स्नान करना चाहिए तत्पश्चात् इसकी पूजा करनी चाहिए। जब पूजा करके लौटें तो चाहिए कि कलाकारों तथा नृत्यकों में पारितोषक बांटते जाएं। इन कलाकारों को पुष्प मालाएं पहनानी चाहिए और उन पर इत्र-फुलेल छिड़कना चाहिए।

श्रावणी में कहा जाता है कि इस दिन कुआंरी कन्याओं को जल-क्रीड़ाएं सिखानी चाहिएं तथा व्यथ में स्नान करना चाहिए। बाद में गाना बजाना तथा नाचना खेलना चाहिए। व्यथ का ऐतिहासिक महत्व क्या है? इस विषय में कल्हण लिखते हैं--'व्यथ कश्मीरी राजाओं के सुख (विश्राम समय) में मन-

लुभावनी छांव, युद्ध में सामग्री तथा लश्कर ढोने के लिए और विपदा में धैर्य और शान्ति सिखाती है।

आगे वे लिखते हैं कि जब राजा अवन्त राजकुमार कल्हण को राजसिंहासन सौंप कर वनवास के लिए निकला तो नौकाओं का एक कारवां तैयार किया गया, जिनमें राजा, रानी, कोष, लश्कर और कुछ विश्वस्त मन्त्री सवार हुए थे। राजा ने पहले व्यथ की पूजा की और फिर शक्तिशाली, बुद्धिमान और वीर राजा विजेश्वर (बीजबिहाड़ा) की ओर चल पड़ा।

बडशाह जैनुलाबदीन 'व्यथ तरवाह' जोकि व्यथ का जन्म दिवस है, को बड़े चाव से मनाता था। इस दिन घास के बने वृत्तों में जलते दीपक रखकर इस नदी में बहाए जाते थे। राजा उस दिन, श्रीधर अनुसार, महल छोड़कर नगर में प्रवेश करता था। वह नौका पर बैठने से पहले लोगों से अपने लिए आशीषें और शुभ कामनाएं लिया करता था। व्यथ के किनारों पर यों दीपक रखे होते थे जैसे देवताओं की पूजा के लिए स्वर्ण पुष्प किनारों पर सजाए गए हों।

यह महोत्सव लारेंस साहिब के समय (1855-1905 ई०) तक मनाया जाता रहा है। लारेंस लिखता है—'इस दिन माता-पिता लड़कियों को तोहफे तथा ईनाम बांटा करते थे। यह पर्व कश्मीर में सांझे रूप में सभी धर्मों वाले बिना किसी भेदभाव के मनाया करते थे। व्यथ की महानता तथा इसके भौगोलिक महत्व सम्बन्धी बरंगेश ऋषि ने एक पुस्तक लिखी है—'वितस्ता माहात्म्य'। इस पुस्तक में व्यथ का भौगोलिक विभाजन किया गया है जो इस प्रकार है—

1. चन्द्र क्षेत्र—यह भाग विरनाग (वैरीनाग) से विजेश्वर (बीजबिहाड़ा) तक नियत किया गया है।

2. मुखती क्षेत्र—यह विभाजन विजेश्वर (बीजबिहाड़ा) से ज़वलन गांव तक किया गया है।

3. सिउध क्षेत्र—ज़लवन गांव से गरगरी तथा अर्थात् गगरीबल तक सिउध क्षेत्र है।

4. गरगरी तीर्थ—अर्थात् गगरीबल से सोनावारी (सुम्बल) तक लक्ष्मी क्षेत्र है।

5. सोनावारी (सुम्बल) से पद्मसर (वुलर) तक है सोनावारी क्षेत्र है।

6. पद्मसर (वुलर) से बारांमूला तक है वराक्षी क्षेत्र है।

7. और बारहमूला से खादनियार तक कोटी तीर्थ का क्षेत्र माना गया है।

राजा अवन्तीवरमन व्यथ किनारे अवन्तीपुर में अवन्ती स्वामी मन्दिर और राज दरबार कहलाता था और इसके अतिरिक्त चक काल में अरहट द्वारा

जल चढ़ाने की रीति भी चली और इससे राजा के अभियन्ता सुय्या की ओर से वरहांमुल (बारहमूला) समीप व्यथ को गहरा किया गया और बाढ़ों का प्रकोप कम हुआ।

व्यथ की महानता तब सामने आई जब सरोजिनी नायडू ने मरने से पहले अपनी वसीयत की जिसमें कहा गया है कि मरणोपरान्त उसकी अस्थियां गंगा में न बहाई जाएं अपितु बीजबिहाड़ा के स्थान पर हरिश्चन्द्र घाट के समीप व्यथ में बहा दी जाएं।

कहा जाता है जब महाराजा प्रताप सिंह सर्दियों में अपने दरबार के साथ जम्मू जाते थे तो वह बीजबिहाड़ा में रातभर अवश्य गुज़ारते थे और दूसरे दिन प्रातः व्यथ की पूजा करते थे। उस नदी में उस दिन इतने पुष्प बहाए जाते थे कि यों प्रतीत होता था मानों पानी में रंगबिरंगा कालीन बिछा हो। नगर श्रीनगर परवरसेन ने व्यथ किनारे कैसे बसाया? इस विषय में एक रोचक सन्दर्भ मिलता है—'राजा परवरसेन राजधानी बनाने के लिए बहुत परेशान था। बहुत तलाश की लेकिन उसे कोई स्थान पसन्द नहीं आया। न जाने उसके मन में क्या आया कि एक रात जब गहन अन्धकार था, तो वह अपने महल से बाहर आ गया। बहुत दूर तक चलने के बाद उसे आग जलती हुई दिखाई दी। वह उसी ओर चल पड़ा। यह श्मशान था और उस समय वहां एक चिता जल रही थी। अन्धकार में यह एक डरावना दृश्य था। उसे लगा वहां एक साया इधर-उधर नाच रहा हो। राजा की दृष्टि अचानक व्यथ के दूसरे किनारे पड़ी। वहाँ उसे एक बहुत ही खतरनाक और भयानक आकृति दिखाई दी। लेकिन विचित्र बात यह थी कि यह भयानक आकृति, जोकि एक भयानक राक्षस की आकृति की भांति थी, राजा को नदी पार कूदने का संकेत कर रही थी। उस दैत्य-काया ने अपनी टांग कुछ इस ढंग से फैलाई कि नदी के दोनों ओर पहुंच गई। राजा निर्भीक रूप से इस टांग पर से चल कर नदी के पार पहुंच गया और यह भयानक आकृति अति प्रसन्न हुई और राजा से बोली—"ऐ राजा बलवीर मैं तेरी वीरता देख कर अति प्रसन्न हुई हूं। मैं वेताल हूं। आओ मैं तुम्हें बताऊं कि तुम कहां राजधानी बनाओ। इस प्रकार परवरसेन ने व्यथ के दोनों किनारे अपनी राजधानी बनाई जिसका पहले प्रवरपुर और फिर श्रीनगर नाम रखा गया। इसी प्रकार शायद दुनिया के प्रथम अभियन्ता सुय्या ने व्यथ को गहरा करने का ढंग बताया। एक चण्डाल बालक होने पर भी वह राजा अवन्ती वर्मा का मन्त्री बना और इसके नाम पर 'सुय्यापुर' बसाया गया जो बाद में बिगड़ता-बिगड़ता अब सोपुर बन गया।

संगम : जहां दो नदियां एक साथ मिल जाती है उसे संगम कहते हैं। इस प्रकार व्यथ वैरीनाग से खादनियार तक छत्तीस संगम बनाती है लेकिन इनमें से ऐतिहासिक दृष्टि से केवल छः संगम अधिक प्रसिद्ध हैं। पहला गम्भीर संगम

जिसे आजकल केवल संगम कहते हैं। यहां तीन नदियां, रंबियार, वैसू और व्यथ मिलती हैं। दूसरा संगम शादीपुर जिसका ऐतिहासिक नाम प्रयाग है। यहां व्यथ और सिन्ध मिलती हैं। गम्भीर संगम का धार्मिक महत्व आजकल समाप्त हो गया है चाहे राजतरंगिणी में अनेकों राजाओं का वर्णन आया है जिन्होंने यहां गम्भीर संगम और खानकाह, मठ और मन्दिर बनवाए थे लेकिन स्टाइन (Stien) लिखता है—"जिस समय मैं संगम पहुंचा तो बहुत तलाश करने पर भी मुझे प्राचीन गौरव का कोई चिन्ह तक नहीं मिला।" लेकिन शादीपुर का महत्व आज भी बना है, वह इसलिए कि यहां मित्रों के श्राद्ध किए जाते हैं। साथ ही यहां मृतकों की अस्थियां जल में प्रवाह की जाती है। कोई छत्तीस वर्षों के बाद शादीपुर में एक बड़ा मेला लगता है, जिसे दशहरा कहा जाता है, इसके अतिरिक्त श्रीनगर में सोंठकुल तथा दूध गंगा, कमराज में पहिरी नाला, लोलाब कलारूस, तुलर, कानल मावर, नंगल, कृष्णगंगा, कई झरने, कूलें और नदियां व्यथ से मिलकर संगम बनते हैं। लेकिन इन्हें ऐतिहासिक, धार्मिक अथवा सामाजिक महत्व प्राप्त नहीं है।

व्यथ में कई प्रकार की नौकाएं चलती हैं जिनमें से ये नौकाएं प्रसिद्ध हैं—(1) डोंगा : इसमें हाजी बसते हैं। इस डोंगे में कई कमरे होते हैं। अतीत काल में इन्हें मनोरंजन के लिए प्रयोग में लाया जाता था और प्राय: डोंगों में बचन-गम' लगता था। डोंगा लगभग 38 फुट लम्बा और 8 फुट चौड़ा होता है। (2) बहेस : ये भी एक प्रकार के डोंगे ही होते हैं लेकिन पहले से काफी बड़े जो कि व्यापारिक कामों में प्रयोग में लाए जाते हैं। (3) शिकारा जो डोंगे से छोटा होता है और अधिकतर नदी पार करने के काम आता है। (4) लिर नाव (हाउस बोट) : यह नौकाओं में आधुनिक वृद्धि है। लिर नाव में एक भव्य भवन की भांति सजे, खुले कमरे होते हैं जिनमें फरनीचर, बिजली तथा सैनीटरी फिटिंग की हुई होती है। ये प्राय: डल में होते हैं और इधर-उधर कम घूमते हैं। इनके अतिरिक्त नौकाओं की अन्य किस्मों में खोच, परंद, टासदार तथा पैट्रोल से चलने वाली मोटर लांच भी सम्मिलित हैं।

व्यथ त्रैरीनाग से घिनाव संगम तक 620 मील की यात्रा तय करती है। श्रीनगर में व्यथ पर नौ पुल बनाए गए हैं और कश्मीर के प्रसिद्ध कस्बे खन्ना-बल, बीजबिहाड़ा, अवन्तीपुर, पद्मानपुर (पांपुर), सोपुर, वरमुल (बारामूला) आदि व्यथ के समीप बसे हुए हैं। कश्मीर के प्रसिद्ध नाग शशरम नाग, वामुख नाग, पांजथ नाग, नील नाग, तारसर, मारसर, ब्रह्मसर आदि नागों (चश्मों) का पानी पृथक्-पृथक् स्थानों पर व्यथ में मिलकर इसकी महानता तथा दीर्घ आकार को और सुदृढ़ करता है। डल, आंचार, मानसबल तथा वुलर जैसी झीलें व्यथ के जल को अपना हिस्सा भेंट कर कुंगपोश (कंवल पुष्प) की भांति ऊंचा तथा पवित्र बनाने में अपना भरपूर सहयोग देती है। जैनुल आबदीन बड़शाह ने

सोनालांक और रोपालांक व्यथ तथा सरोवरों की अमूल्य वस्तु पराग को ऊंचा उठाने के लिए बनवाए। राजतरंगिणी का यह सन्दर्भ कितना महत्वपूर्ण है और इस से कितनी बड़ी महान तथा पवित्र व्यथ बनती है—जब राजा कलश के सिर में ईंट लगने से रक्त किसी भी भांति बन्द न हुआ और जब वह जीवन से निराश हो गया तब वह प्राण त्यागने के लिए विजेश्वर तीर्थ (बीजबिहाड़ा) की ओर मारतण्ड तीर्थों पर निकल पड़ा। कल्हण लिखता है—"राजा निकल पड़ा। विजेश्वर तीर्थ (बीजबिहाड़ा) जैसे मरणोपरान्त सारे पापों से व्यक्ति मुक्ति ढूंढ लेता है। यहां वितस्ता जन्म-जन्म के पाप धो देती है जैसे वर्षा होते समय ढलान धोई जाती है। यह भाग्यहीन राजा पवित्र तथा स्वच्छ नगर छोड़ कर मारतण्ड तीर्थ पर मरने के लिए जा पहुंचा।

व्यथ कश्मीर के कलाकारों, विशेषकर कवियों के हृदय तारों को समय-समय, मिज़राब की भांति झंकृत करती रही है। नादिम साहिब का "व्यथ आए माहरनी सोनिए" (व्यथ हमारे हां दुल्हन बन कर आई है) ओपेरा कश्मीरी साहित्य की मूल्यवान पूंजी, अब्दुल आहद नाज़िम की प्रसिद्ध कविता "खनबल कदलस पाहरीं तरिए" (खन्नाबल पुल से दुल्हन निकली) अथवा कृष्णजू राजदान की "विज ब्यार परदिखनन दस सक दरहे विजेश्वर हे छुइ पेश पूजा" (बीजबिहाड़े की परिक्रमा विजेश्वर की फूलों से की पूजा समान है)। अभिप्रायः यह कि कवियों ने अवचेतन में व्यथ की मौन गूंज सुनी, और शिल्पी हाथों ने इसकी उस आशा की नींव रखी जिस के कारण कश्मीरी कला एवं संस्कृति समृद्ध हुई। □

अनु० दीदार सिंह

पेपर मेंशी

□ सुलतानुलहक शहीदी

पाइपा मेची, पायपर मीची या पेपीयर मेशी को कारि मनकश, कारि कलमदान, कारि कलमकारी अथवा कारि कलमदानी भी कहते थे जिसे अब नक्काशी कहा जाता है।

बोलने और लिखने की भांति चित्रकला भी अभिव्यक्ति का माध्यम है। बोलने में हम ध्वनि का प्रयोग करते हैं जबकि चित्रकला में चित्रों से यह लक्षित करते हैं। लेखन और चित्रकला में हम अपनी आंखों और हाथों का प्रयोग करते हैं परन्तु बोलने में केवल जिह्वा का प्रयोग होता है। लेखन की अपेक्षा चित्रकला अभिव्यक्ति के ज़्यादा निकट है। क्योंकि लेखन तो केवल उन्हीं लोगों की समझ में आता है जो उस विशेष भाषा से परिचित हों। जबकि चित्रकला केवल दर्शकों के सौंदर्य बोध तथा दृष्टि पर ही आधारित होती है।

पेपर मेशी की कला, जो हस्तशिल्प भी है जो उतनी ही पुरानी है जितना कि कागज़ बनाना। क्योंकि सजावट, रंग रोगन, कोमलता और इसकी अभिव्यक्ति मनुष्य की आत्मा में विद्यमान है।

प्राचीनकाल में मनुष्य ने गारे के साथ घास का चूरा, चीथड़े और रूई मिलाकर खिलौने की तरह भिन्न-भिन्न वस्तुओं का निर्माण करके रंग और रोगन से सजाना आरम्भ किया। इन वस्तुओं का भार कागज़ के आविष्कार से हल्केपन में बदलता गया। आज तक की खोज के अनुसार कागज़ भी रेशम की तरह सन् 150 ई० में पहले चीन ही ने बनाना सीखा था। तदुपरान्त यह कला मध्य एशिया में पहुंची जहां से यह अरब, स्पेन, फ्रांस, ईरान तक आ पहुंची। स्वयं अरब में 'कलामे मजीद' पहले पहल हिरण की खाल और हड्डियों आदि पर लिखा जाता था। जब इस्लाम मध्य एशिया तक पहुंचा। कहा जाता है कि सन् 757 ई० में यहां के शिल्पकारों को अरब ले जाया गया जहां इन्होंने कागज़ के व्यवसाय को उन्नत किया।



पेपरमाशी से बने फूलदानों पर उकेरी हुई फूलों की जीवंतता

कागज़ का व्यवसाय उत्तर पश्चिम से होकर दक्षिण तथा पश्चिम की ओर फैलता गया। चित्रकला भी प्राचीन युग में अधिकतर चीन में ही उन्नत हुई इसलिये कागज़ का आविष्कार और इस पर चित्रकारी करना और स्मारकों पर चिपकाना समझ में आता है।

पेपर अंग्रेज़ी का शब्द है जो इतालवी भाषा से लिया गया है। चीथड़ों, रूई और घास के अतिरिक्त वृक्षों के बीज के नरम गूदे को कूट-कूट कर लेई सी बनाने या इस से कोई वस्तु बनाने को वास्तव में पेपीयर मेची ही कहा जाता था जिसकी साफ, पतली चमकदार परतों को बाद में पेपर कहा जाने लगा। जहां तक इस लेई को किसी सांचे पर चढ़ाकर किसी काम आने वाले रूप में ढालने और इस पर फुलकारी से सजाने का सम्बन्ध है वास्तव में उसी को पेपर मेशी कहते हैं। सम्भवतः कारि कलमदान, कारि कलमदानी या कारि कलमकारी की किसी भी वस्तु पर चित्रकारी और बेल बूटे वालों के कलम और पतली कूचियों से बनाये जाते थे। अतः कारि कलमदान इस बात से इस को भिन्न कर देता है। क्योंकि यह कलमदान बनाने के काम को कहते हैं। कुछ भी हो यह दोनों नाम फ़ारसी अर्थात् ईरानी हैं। यद्यपि हमारी रियासत का वाणिज्य और नागरिक मेलजोल प्राचीन युगों से समरकंद, ताशकंद तथा बुखारा से रहता आया है परन्तु कारि कलमदानी हम तक ईरान से पहुंची है। कहा जाता है यह कला सुलतान ज़ैनुलाबदीन यहां की घरेलू कला कौशल को बढ़ावा देने के आशय से कश्मीर लाये परन्तु दूसरी धारणा है कि मुस्लमानों के प्रवर्त्तक हज़रत मीर सय्यद अली हमदानी (रह) ने अपने साथियों और प्रचारकों की जो मण्डली साथ लाई थी उसने न केवल धार्मिक प्रचार पर ही संतोष किया बल्कि लोगों को समाजी तथा आर्थिक तौर पर सुदृढ़ बनाने के लिये इन को नई-नई कलाओं से अवगत कराया। हज़रत मीर सय्यद अली हमदानी कदस सिरह ने एक विस्तृत निबन्ध 'ज़र्खीरतुलमुंलक' लिखा ताकि समकालीन सुलतान इसके अनुसार कार्यशील राजाओं के लिये मार्ग दर्शन करें। बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े दार्शनिक अलामा इकबाल (रह) इन के बारे में यूं लिखते हैं—

मुर्शिदे आं किशवर मेनू नज़ीर,
मीरु दरवेश व सलातीन रा वज़ीर।
खत्तये आं शाह दरिया आसतीन,
दाद इल्म व सुन्नअत व तहज़ीब व दीन।
आफ़ीद आं मर्दि ईरानि सग़ीर,
बा हुनर हाय गरीब व दिलपज़ीर।

अतः यह बात बिल्कुल सत्य है कि पेपर मेशी भी इन के साथियों ने ही यहां के लोगों को सिखायी है। कहा जाता है कि अमीर तैमूर जब आसपास के

देशों पर आक्रमण करके इन पर अधिकार जमाता गया तो कश्मीर के शहमीरी राजा सुलतान सिकन्दर ने शाही खान (जैनुलाबदीन) को बहुमूल्य उपहार देकर तैमूरी दरबार में भेजा जहां तैमूर शाही खान की बुद्धि, साहस तथा विवेक को देखकर बड़ा प्रभावित हुआ और इसे अपने साथ रखा। समरकंद जिसे इन दिनों तैमूर शिल्पकारी का केन्द्र बना रहा था शाही ख़ान हर शिल्प के बारे में व्यक्तिगत रुचि लेता रहा और पूरी तरह इसको परखता रहा। अतः जब शाही खां सुलतान जैनुलाबदीन के नाम से राज सिंहासन पर बैठा तो उसने कश्मीर की सार्वजनिक उन्नति के बारे में अपना पूरा ध्यान केन्द्रित किया।

ह्यूनसांग के यात्रा विवरण और राज तरंगिणी के सन्दर्भ में यह बात प्रकट होती है कि कश्मीर के व्यावसायिक सम्बंध तिब्बत के साथ रहे हैं और यहां के जनसाधारण का अधिकांश भाग हस्तशिल्पों में व्यस्त रहता था। परन्तु जो समृद्धि और शान्ति का वातावरण बडशाह (जैनुलाबदीन) के राज्यकाल में रहा वह एक अनुपम उदाहरण है। इस सहृदय राजा के उज्जवल कार्यों को देखते हुये सहसा मुंह से "बड़शाह बादशाह" निकल जाता है। और यही नाम इसे हमेशा के लिये जीवित रखेगा। उस प्रत्येक शासक के लिये बडशाह द्वितीय की उपाधि प्राप्त करना गौरव का सूचक है जो लोगों की भलाई की ओर विशेष ध्यान दे। कहा जाता है कि बडशाह की मां की कब्र के बाहर कूटे हुये कागज की चित्रित टाइलें लगाई गई थीं। 'हुनर मर्दम ?' (तहरान भाग 73) के अनुसार विशेषज्ञों ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि पेपर मेशी का काम सलजोती युग में ईरान में आरम्भ हुआ है जो 12वीं शताब्दी ई० का काल है। यह काम कारकलमदानी अर्थात Pen holder से आरम्भ हुआ। सामंती युग में ईरानी शिल्पकारों ने कलमदानी काम में नयापन पैदा किया। कलमदान बड़े-बड़े लोगों के लिये एक विशिष्ट प्रतीक बना हुआ था। क्योंकि यह न केवल कलम और दवात रखने का एक डिब्बा हुआ करता था अपितु एक बहुमूल्य वस्तु भी था। यों धीरे-धीरे कलमदान के साथ अतिरिक्त वस्तुएं भी शामिल होती गईं। अर्थात् बोतलें, रूमाल, अंगूठियां, चूड़ियां और मोहरें (Stamps) आदि भी। चूंकि कलमदान ऊंची श्रेणी के लोगों की विशेषता माना जाता था। इसलिये यह लोग इसे एक दूसरे के हां, एक मूल्यवान उपहार के तौर पर भी भेजा करते थे। शिल्पकारों ने भी इसमें तरह-तरह की शैली की वृद्धि की। इस तरह यह Breif case आभूषणों के डिब्बों, ट्रे तथा अन्य वस्तुओं के रूप में सामने आता गया।

आरम्भ मे जिन शिल्पियों को ईरान और तुर्किस्तान से यहां लाया गया था इन के काम को बड़शाही दौर में उद्भव मिला और तीसरी बार चक युग में सरकारी देख-रेख में इसके शिल्पकार पनपते रहे। इन्हें विशेष सुविधायें दी गईं। इन दिनों इसके केन्द्र जड़ीबल, मदीन साहब, हसनाबाद और कमानगरी पुरा

आदि थे। चक काल के बाद जब कश्मीर मुग़ल राज्य की छत्र छाया में आया तो मुग़ल यहां के कई शिल्पकारों को लाहौर, दिल्ली और आगरा ले गये। यूं पेपरमेशी के शिल्पकार दो तरह से लाभदायक सिद्ध हुये। पहले यह कि मुग़ल महलों और हवेलियों की छतों और शाह नशीनों से सजाया जाने लगा। दूसरे इनकी तैयार की गई वस्तुयें महंगे दामों बिकने लगीं। इससे पहले इन्होंने कश्मीर के इमामवाड़ों की छतों, दीवारों, पवित्र स्थानों के गुम्बदों के भीतरी भागों और खिड़कियों-दरवाज़ों के पट अपने अमर हस्त कौशल से भर दिये थे जिसके मूक साक्षी यह आज भी हैं।

पठानों के राज्यकाल में यह शिल्प भी एक तरह से रुक सा गया। सिक्खों ने यद्यपि कोई विशेष काम नहीं किया परन्तु कश्मीरी शिल्प को लेकर अधिक विरोध भी नहीं किया। बल्कि इसके साथ मित्रतापूर्वक बर्ताव ही अपनाया और अब इस का प्रकार ही बदल गया है।

मोरक्राफ्ट ने कश्मीरी कारकलमदानी के नमूनों को दिल्ली दरबार में देखकर इनकी बहुत प्रशंसा की है। वे कहते हैं कि चित्रकारी में प्रयोग होने वाले रंग और बुरुश आदि स्थानीय तौर पर ही बनाये जाते हैं। कभी-कभी और स्थानों से भी मंगवाये जाते हैं। पेपर मेशी जो अत्यन्त परिश्रम और सूक्ष्मता का काम है यद्यपि शिया मुस्लमान ही करते आये हैं परन्तु इतिहास एक प्रसिद्ध शिल्पकार का भी पता देता है। सन् 1875 ई० में एक और उच्च कोटि का चित्रकार सय्यद तुराब भी हुआ करता था। अली मुग़ल तथा अब्बास मुग़ल मेरे पिता के समय के प्रसिद्ध चित्रकार थे। स्वयं मेरे बचपन में अका बांका नाम का एक दीर्घकाय चित्रकार पेपरमेशी के कार्य में नाम कमा चुका था।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पेपर मेशी जानने वाला वर्ग एक अल्पसंख्यक वर्ग है और इसने सामान्यतयः अपने ही वर्ग के मनुष्यों को यह शिल्प सिखाया जिससे कि यह सीमित होकर रह गया शिल्पकारों की अदूरदर्शिता और स्वार्थ का जिक्र करते हुये पंडित आनन्द कौल अपनी पुस्तक "Jammu and Kashmir State" में लिखते है—

"कश्मीर के पेपर मेशी जानने वाले शिल्पकारों की आय अच्छी है परन्तु वे कल के बारे में सोचे बिना अपनी कमाई को एक साथ व्यय कर बैठते हैं। प्रायः घरों में शाम को जलाने की लकड़ियां भी प्राप्त नहीं होतीं। वे अपने आंगन की पचरवंदी से चूल्हे को जलाते हैं। और अगले दिन अपनी बनाई हुई वस्तुएं बेचकर फिर से खड़ी कर देते हैं।"

इसी पुस्तक में आगे चलकर वे लिखते हैं—

'कश्मीरी शाल पेपर मेशी के डिब्बों और बक्सों में रख कर फ्रांस भेजे जाते हैं जो वहां अलग से बेचे जाते हैं।'

इसमें सदेह नहीं कि टाट के सांचे के मुकाबले गत्ते का सांचा कमज़ोर होता है। इसलिये इसके कम ही सांचे बनते हैं। परन्तु टाट से अस्सी प्रतिशत वस्तुएं बनती हैं। यह भी सत्य है कि कुछ कमजोरियों के बावजूद गत्ते के सांचे में आसानी तथा लागत की कमी का लाभ है। गत्ता सबसे पहले जापान ने तैयार किया और इसके बाद अन्य देशों में बनाया जाने लगा। इसकी कई मोटाइयां होती हैं। तथा मोटाइयों के आधार पर ही भिन्न-भिन्न प्रकारों (अददों/अंकों) में प्रयोग किया जाता है।

सरेश (Glue) **रंगों** में टिकाऊपन के अतिरिक्त सांचों के जोड़ने में प्रयुक्त होता है। आज से आधी शताब्दी पूर्व चित्रकार स्वयं ही सरेश तैयार करते थे। पशुओं की सिरियों तथा पांवों को पका कर उसका रस निकालते थे और इसी को गाढ़ा करके टुकड़ों के आकार में सुखा कर रख दिया जाता था। और जब बाहर से सरेश आना आरम्भ हुआ तो स्थानीय सरेश छोड़ दिया गया। अब तो fevicol भी बाजार में मिलता है परन्तु वह रंगों में प्रयुक्त नहीं हो सकता। हां जोड़ने में काम आता है।

सांचे का सामान—इसमें कई वस्तुएं प्रयोग होती हैं। जैसे—

कैंची—गत्ता काटने में बड़े साइज़ की कैंची अत्यावश्यक है।

टांकी—इसको chisel कहते हैं। इसे छीलन या रखाली भी कहते हैं। यह चपटी होती है और सीध में गत्ता काटने के काम आती है।

नालीदार कटाली (Guage Chisel)—यह आधे गोल सिरे वाली छीलन होती है। प्रत्येक छीलन लोहे के उत्तम मसाले की बनी होती है।

प्रसिद्ध अंग्रेज़ इतिहासकार वर्नीयर जो औरंगज़ेब के साथ कश्मीर आया था यहां से अपने मित्र मालिनोजी श्रायलन के नाम अपने पत्र में यूं लिखता है—

"सुन्दर वस्तुयें बनाने में कश्मीरी अपना जवाब नहीं रखते। कलमदान, संदूकचे, चिमचे, पालकियां इत्यादि यहां की बनाई हुई वस्तुयें अनेक स्थानों को उपहार के तौर पर भेजी जाती हैं जहां इनकी बड़ी प्रशंसा होती है। इस में अधिकतर वस्तुयें कूटे हुये कागज़ से बनाई जाती हैं।'

कूटे हुये कागज से बनाई हुई वस्तुओं में ग्राहकों की मांग से वृद्धि हो गई है। और इसी तरह डिजायन बनाने में भी विविधता आई है। सुलतानों की पसन्द मुगलों की पसन्द, ईरानी परम्परा, अफ़गानों का शौक, सिक्खों, हिन्दुओं और अंत में अंग्रेजों की फरमाइश इन में वृद्धि करती रही। यों तो भिन्न-भिन्न डिजाइन भिन्न-भिन्न देशों की पसन्द के द्योतक हैं। वस्तुओं की बनावट और अपने मूक अंदाज से अपने इतिहास को दोहराते हैं। जैसे कलमदान, फूलदान, शमादान, अगरदान, इतरदान, किताबदान, रहल, आभूषण और ज्यूलरी के

बक्स, तम्बाकू के डिब्बे शतरंज के बक्से भीतरी छतों की तख्तियां, पाउडर सेट, चूड़ियों के बक्स, रूमाल बक्स, टाई बक्स, एश ट्रे (राखदानी) ताश के डिब्बे, खाने की मेजें और कुर्सियां, टिकट बक्स, बिस्कुट बक्स, लैम्प स्टैंड, राईटिंग सेट, फिंगर बाउल, आदि जैसी वस्तुओं में लासा, शिकार गाह, गुल विलायत, साल तरह, चिनार तरह, दरबार जंग, खय्याम तरह, स्वयं अपने अस्तित्व की पृष्ठभूमि के सूचक हैं। लद्दाख सत्तू के बर्तन गये। पंजाब और जम्मू सिलाई केस और चूड़ियों के डिब्बे इसी तरह अन्य वस्तुओं के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है।

पेपर मेशी के अन्तर्गत किस-किस तरह की वस्तुयें आती हैं इस की विस्तृत जानकारी हम अलग से दे रहे हैं। डिज़ाइनों की सूची भी अलग दी जा रही है। यह बात याद रखने लायक है कि पेपर मेशी में सजावट और उपयोगी दोनों तरह की वस्तुएं बनाई जाती हैं।

सांचा बनाना—प्राचीन समय से राजाओं, महाराजाओं, नवाबों और अमीरों तथा वज़ीरों के अनुरोध पर पेपरमेशी का सांचा और इसके डिजाइन बनाये जाते थे। पहले सांचे पर कागज़ के वर्क चढ़ाये जाते थे और इस पर कूटे हुये कागज़ (मालीदा) की पतली परत चढ़ाई जाती थी। इसके सूखने पर दूसरी और तीसरी परत चढ़ाई जाती थी। यहां तक कि पांच सात परतें हो जातीं और बाद में इसे थाली से वांछित मोटाई तक दाब कर सूखने के बाद काट कर उतारा जाता है।

पेपर मेशी की वस्तुएं बहुत तरीकों से तैयार की जाती हैं। परन्तु प्रारम्भिक तरीका यही है कि वांछित चीज़ की शक्ल का ढांचा बनाया जाता है जिसे mould कहते हैं। यही सांचा भी कहलाता है। इसी सांचे पर मालीदा (pulp) या बूरा मढ़ दिया जाता है। इसके अतिरिक्त आसानी के लिये गत्ते की वस्तुएं भी बनाई जाती हैं। प्रत्येक दो रूपों में सांचा एक प्राथमिक भाग है। यह अलग बात है कि अब विशेष लकड़ी और हार्ड बोर्ड के सामान पर भी नक्काशी की जाती है जिस का वर्णन हम अलग से करेंगे। सांचे तीन प्रकार के बनते हैं—

(1) लकड़ी के (2) पक्की मिट्टी के (3) कच्ची मिट्टी के—लकड़ी के सांचे दो प्रकार के शिल्पकार बनाते हैं—खरादी और बढ़ई। पक्की मिट्टी के सांचे कुम्हार तैयार करते हैं और कच्ची मिट्टी के सांचे, सांचा बनाने वाले अपनी विवशता के लिये स्वयं ही बनाते हैं। हर सांचा मापतोल चौड़ाई और आकार की दृष्टि से निश्चित है।

थापी (Wooden hammer)—इसे कटाली और टांकी या किसी वस्तु को काटते समय चोट मारने के काम में लाया जाता है।

सिल—चपटी और पतले पत्थर की होती है जिस पर टाट को रख कर

लेई के साथ मिलाया जाता है और जोड़ी हुई समतल वस्तुओं को सूख जाने तक संतुलित रूप में सिरे पर रखा जाता है। इसका साइज़ 18″ × 12″ होता है।

आरी और इस्तेग़—यह दोनों प्रकार की आरियां साख्ता बनाने में आवश्यक उपकरण हैं। आरी साधारण चीर-फाड़ में प्रयुक्त होती है। इसके दांत इस्तेग से थोड़ा मोटे होते हैं। इस्तेग के दांत बारीक होते हैं। यह सांचे के अददों के ढक्कनों को सीध में काट कर पृथक करने के काम आती है।

रेती या सोहान—यह एक मोटे दंदाने की होती है और दूसरी दो रुख वाली अर्थात् एक को file rasp और दूसरी को file कहते हैं। इसकी एक सतह चपटी और दूसरी आधी गोल होती है। एक और file बिल्कुल गोल होती है।

करनी—यह छोटी और बड़ी होती है। काम के अनुपात से प्रयुक्त होती है। लचकदार और पतले इस्पात वाली करनी सर्वोत्तम मानी जाती है। इससे mould पर बूरा (मालीदा) ढांपते समय समतल रखा जाता है। यह लोहारों और हार्ड वेयर वालों से प्राप्त होती है।

बटा—यह कोई आध सेर भार का पत्थर होता है। जोकि एक ओर से चपटा और शेष सिरों से कहीं गोलाई लिए हुए और कहीं तिरछा ढालुवां या नालीदार होता है। यह साख्ता साज़ी में बड़ा ही काम आता है। इसको अंग्रेज़ी में moulder कहते हैं। और कश्मीरी में 'वटः'। यह प्रायः पहाड़ी नदी नालों से प्राप्त किया जाता है। यह 'आरः बट' भी कहलाता है। बूरे वाले साख्ता के थोड़ा सूख जाने पर इस बटे से इसकी सतहों को दबाया जाता है। इसके किनारे ठीक किये जाते हैं। यह बटा थापी का काम भी देता है।

परकार—यह छोटे तथा बड़े दोनों साइज़ों का होना चाहिए।

स्केल या पैमाना—यह एक मीटर तक की लम्बाई का होना चाहिए।

रेगमाल जिसे sand paper कहते हैं, सतहों को मुलायम और समतल करने के काम आता है।

पेंसिल—सख्त और नरम दोनों प्रकार के काम आती है।

गुनिया—यह भी एक आयश्यक उपकरण है जो साख्ता साज़ी में आवश्यक माना जाता है।

गत्ते और कागज़ के बुरादे के डिब्बे और सांचे एक विशेष साइज़ तक ही तैयार किए जा सकते हैं। समय केवल इन्हीं के अनुमरण पर सन्तुष्ट नहीं रह सकता। अतः सांचों की तैयारी में भिन्न भिन्न कच्चा माल प्रयोग होने लगा और इसका रूप भी आवश्यकताओं की तरह बदलने लगा बड़ी ट्रे, फ्रेम, लम्बे नेकटाई बक्स मेज़ें स्टूल, काफ़ी टेबुल मेट और स्क्रीन की कल्पना पेपर

मेशी में सक्रिय रूप से प्रविष्ट हुआ। इसमें ऐसी लकड़ी प्रयोग की जाने लगी जो मुड़ती न हो। इस लकड़ी के जोड़ों और सतहों पर बारीक कपड़ा मढ़ दिया जाता है। ताकि काम होने के बाद कहीं दरार न आने पाये। अब समतल और पतली चीजें या मेज़ों क टाप हार्ड बोर्ड के प्रयोग होते हैं। बड़े-बड़े पैनल (panel) और फ्रेम भी इसी के बनते हैं। कई सांचों में लकड़ी और हार्ड बोर्ड दोनों ही प्रयोग होते हैं। इनके अतिरिक्त चीनी मिट्टी की चादरों को शीशे के या पीतल के सांचे भी टाट वाले साख्तों में प्रयोग होते हैं। यह चाय के डिब्बों, बिस्कुट के बक्सों, सिलाइयों की नलियों सुराहियों और हुक्कों में भीतर से आवरण के रूप में प्रयोग होते हैं क्योंकि इनमें गीलेपन और पानी से चित्रकारी की हुई सतहों को हानि नहीं पहुंचनी चाहिए।

अब कुछ और वस्तुएं जो पेपर मेशी की चीजें बनाने के समय में काम में लाई जाती है, का ज़िक्र करना भी उपयुक्त होगा। उदाहरणतया—

सिल बट्टा—पत्थर का चौड़ा-सा साफ तख्ता और बट्टा। यह रंग, मसाला पीसने का पत्थर होता था। जिसे कश्मीरी में 'किटन' कहते हैं। यह आठ नौ इंच लम्बा एक पत्थर होता है और बट्टा से थोड़ा भिन्न इसकी एक सतह समतल होती है। ताकि मसाले को रगड़ कर बारीक किया जा सके। 'काज: वट' भी इसे ही कहते हैं। काज या कांच अर्थात् कांच का बदला हुआ रूप है। पिछले समय में यहां के शीशागरी मुहल्ले में शीशा पीसा जाता था और बाद में काम में लाया जाता था। पीसने वाले पत्थर को वह 'काज: वट' कहते थे। इसी प्रकार काचगरी मोहल्ले के लोग कांच की चूड़ियां, काच: बुंगर' बनाते थे। काज: वट हो (सब्ज़) रंग और सख्त प्रकार के पत्थर की खानों से (एक ओर से प्राकृतिक तौर से समतल) देखकर निकालते थे। पेपर मेशी के साख्ते पर गच की लिपाई के लिए गच के टुकड़ों को इसी सिल पर रंग भी बट्टे से पीसते हैं।

गच—इसी को अंग्रेज़ी में पलास्टर कहते हैं। वास्तव में एक प्रकार का चूना होता है जिस को 'केगल' की तरह दीवारों पर लगते हैं। काफी समय के बाद उसको दीवारों से उखाड़ते हैं। इसमें चूने में पाया जाने वाला गैस नहीं होता। कहीं-कहीं इसको उखाड़ते समय सुरखी भी मिली होती है। मोहरकन (मोहरें बनाने वाले) और दंदान साजों के सांचों को भी गच के तौर प्रयोग किया जाता है। इसके साफ करने में कठिनाई नहीं होती। यह गच सिल पर पानी मिला कर पीसा जाता है। कभी खसखस के दानों जितना बारीक किया जाता है। और कभी इससे मोटा रखा जाता है। गच को पानी और सरेश मिला कर लीपा जाता है। शीतकाल में इसको गरम किया जाता है और बाद में लेई की तरह लीपा जाता है। सूख जाने पर पत्थर से सांचे की सतह को एक और

पत्थर से इसको कुरकुट कहा जाता है, घिसा जाता है ताकि यह समतल हो। गच घोड़ों की गर्दन के लम्बे बालों से बनाए गए बुरुश से लीपा जाता है। अब बुरुश बने बनाये भी बाजार में मिलते हैं।

हरीरा—यह वास्तव में पतले कागज़ या रेशम को कहते हैं। यद्यपि इसके कई रंग होते हैं परन्तु पेपर मेशी में सफ़ेद प्रकार का हरीरा ही प्रयोग किया जाता है। इसका लेईदार होना आवश्यक है। गच की घिसाई के बाद इस में कुछ दरारें आ जाती हैं जिनको ढांपने के लिए हरीरा लगाया जाता है। यह हरीरा सरेश को पतली लेई से चिपका देते हैं। 'अदद' पर सरेश की लिपाई नरम कपड़े के टुकड़े या रूई से की जाती है। हरीरा चिपकाने में बड़ी सावधानी से काम लिया जाता है कि एक टुकड़ा दूसरे टुकड़े पर न चिपके। इस तरह सतह फिर से खुर्दरी होने का डर होता है। फिर भी यद्यपि कुछ सिलवटें रह जायें तो इनको एक रेगमाल मल देने से दूर किया जाता है। अददों के भीतरी भागों में हरीरा का प्रयोग नहीं होता। हरीरा लगाने के बाद अदद रंग की लिपाई के लिए तैयार हो जाता है।

रंग—रंगों से मनुष्य स्वाभाविक रूप से प्रसन्न होता है। क्योंकि प्रकृति के चमत्कारों की मनोरंजक अभिव्यक्ति होती है। इससे मनोरंजन और आकर्षण पैदा होता है। प्राकृतिक फलों तथा वृक्षों की हू-ब-हू नकल करने में इसी प्रकार के रंगों की आवश्यकता होती है। अभी तक तीन किस्म के रंग तीन स्रोतों से प्राप्त किए जाते हैं। रंगों की पहली किस्म pigment colour है। यह प्राकृतिक खनिजों से प्राप्त होने के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न धातुओं जैसे सीसे, जस्त, तांबे, कलई, चांदी और सोने आदि से भस्म बना कर तैयार किए जाते हैं। जबकि प्राकृतिक खानों से भी भस्मभूत (onidised) ही मिलते हैं। इनमें कुछ रंग मिट्टी जैसे होते हैं ज़ो पृथ्वी की ऊपरी तहों से ही प्राप्त होते हैं और कुछ पृथ्वी के भीतर धातुओं की खानों से मिलते हैं। जब इनके अंग्रेज़ी नाम गिनाए जाते हैं तो पता चलता है कि यह किन धातुओं से सम्बन्ध रखते हैं। इन धातुओं से प्रायः सीसा (lead) जैसी धातु से सम्बन्धित हैं जैसे वाइट ब्लैक लैड, रेड लैड, ब्लू लैड इत्यादि। इसी प्रकार मिट्टी वाले रंगों का भी एक ग्रुप है जो OCHURS नाम से सम्बन्धित हैं। जैसे ब्लैक ओक्र (ओक्र=मिट्टी), ब्लू ओक्र, गोल्डन ओक्र, रैड ओक्र, रोमन ओक्र, क्रोम ओक्र आदि। इसी प्रकार कुछ रंग अम्बर से प्रसिद्ध हैं। जैसे रा अम्बर, बर्न्ट अम्बर आदि। Umber भी मिट्टी ही होता है। ऐसे रंग सारे के सारे सतहों की लिपाई या फ़ीके रंग मिलाने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। रंगों का दूसरी प्रकार वनस्पति (vegetable) है। यह किस्म फलों, फूलों तथा वृक्षों से प्राप्त की जाती है। ऐसे रंग lacks के नाम से जाने जाते हैं। जैसे क्रम्ज़न लैक, यैलो लैक, रैड लैक, मेड्र लैक, स्कार्ट लैक, पर्ल लैक, ब्लू लैक आदि। यह दूसरे ग्रुप के रंग पेपर मेशी में

फूल पत्ते बनाने में, सजावट के काम आते हैं। रंगों की तीसरी श्रेणी वह है जो वैज्ञानिक ढंग से प्राप्त की जाती है। यह रंग विशेष तौर ऊनी और सूती कपड़ों की रंगाई में प्रयोग होते हैं। यह रंग घटिया प्रकार की नक्काशी में प्रयुक्त होते हैं जो समय गुजरने के साथ-साथ उड जाते हैं और इस प्रकार चित्रकारी फीकी पड़ कर भद्दी हो जाती है क्योंकि चित्रों की उजागरता मन्द पड़ जाती है। अच्छी नक्काशी में मान्यता प्राप्त चित्रकार और उस्ताद इन रंगों को काम में नहीं लाते। खनिज रंग प्रकाश और अन्धेरे के आधार पर दो भागों में विभाजित होते हैं। सबसे प्रकाशमय रंग सफ़ेद माना जाता है। इसके बाद पीला रंग दूसरी श्रेणी का माना जाता है। इसी तरह तमिस्र रंग काला माना जाता है और नीला दूसरी श्रेणी पर तमिस्र माना जाता है। वैज्ञानिक तौर पर इन रंगों को गरम और ठण्डे वर्गों में बांटा गया है। गर्म रंगों में लाल रंग पहले स्थान पर और दूसरे स्थान पर पीला रंग है। तीसरे स्थान पर इन दोनों की मिलावट से तैयार किया हुआ रंग रखा जाता है। सर्द और गर्म रंगों से इलाज भी किया जाता है। अर्थात् गरम गुण और जनूनी (उन्मादी) को लाल रंग वाले कमरे में नहीं रखा जाता। अन्धे और उन्मादी को काले रंग वाले कमरे में रखा जाता है। प्रभाव के आधार पर भी रंगों के पृथक् ग्रुप में सफ़ेद रंग शान्ति और सद्भावना का प्रतीक माना जाता है। लाल रंग उपद्रव, युद्ध और क्रान्ति का सूचक माना जाता है। सब्ज़ रंग समृद्धि के लिए और काला रंग शोक के तौर पर प्रयुक्त होता है।

वस्तुओं की तैयारी के समय भिन्न भिन्न विचार तथा रुचि रखने वालों के अनुसार पृथ्वी के रंगों के अतिरिक्त चित्र में रंग भरने का भी विशेष ध्यान रखा जाता है। प्रसन्न चित्त और दूरदर्शी गहरा लाल, प्रेमी और सेवा भाव वाले गुलाबी, बुद्धिजीवी और शिल्पीकार पीला स्थितप्रज्ञ हल्का पीला, स्वेच्छाचारी नारंगी, गम्भीर तथा तटस्थ सफ़ेद रोमांटिक नीला, निर्णय शक्ति के धनी गहरा नीला, रूढ़िवादी मिट्टी का रंग, प्रसन्नचित्त और आशावादी लोग सब्ज़, सहानुभूति रखने वाले हरा (ज़मुर्दी), ईश्वर भक्त बनफ़शी रंग को पसन्द करते हैं। इस तरह अपने व्यवसाय को बढ़ावा देने में रंगों का बड़ा योग है।

रंगों में जहरीले गुण भी होते हैं। इसलिए नये सीखने वालों को इनसे बचने की हिदायत दी जाती है। उस्ताद इनसे परिचित होते हैं। असावधानी करने से स्वास्थ्य बिगड़ जाने का डर रहता है। खनिज रंग जो पेपर मेशी की कला का आधार है, हज़ारों साल पहले से प्रयोग किए जाते थे जिनका पता अजंता की गुफाओं से मिलता है। यह रंग खनिज होते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्राप्त किए जाते हैं। कभी कश्मीर, लद्दाख तथा समरकंद की पहाड़ियों से लाये जाते थे। आजकल यह वैज्ञानिक तौर पर भारत में तैयार होते और पैकेटों और बोतलों में प्राप्त होते हैं। नकली रंग वार्निश

से बदल जाते हैं। विशेष रंग फूलों की पत्तियां बनाने और चेहरे बनाने में प्रयोग होते हैं। विशेषतया जब सोने और चांदी के वर्कों की तरह प्रयुक्त हों। खनिज रंगों को चपटी सिल पर बटों से घोट कर और थोड़ा पानी मिला कर बारीक किया जाता है और बर्तनों में रखा जाता है।

चित्रकला की दृष्टि से मूल या बिना मिलावट के पांच रंग हैं। लाल, पीला, या नीला और इन तीन रंगों की मिलावट के अतिरिक्त तीन रंग सब्ज, अरगवानी (संगतरी) नारंजी प्रकट होते हैं। जब रंगों को एक दूसरे के साथ मिलाते हैं तो यह दूसरी श्रेणी के रंग कहलाते हैं और इनकी संख्या दस हो जाती है।

प्रथम श्रेणी के रंग—1. लाल (किरिम्ज़ी) 2. नीला 3. साफ पीला 4. सफ़ेद 5. काला।

दूसरी श्रेणी के **रंग**—1. लाल + पीला = नारंजी, 2. लाल + नीला = अरगवानी, 3. पीला + नीला = सब्ज, 4. पीला + सफेद = कपासी, 5. लाल + सफेद = गुलाबी, 6. ब्लू + सफेद = मलाई शरकी, कपूरी, 7. काला + सफेद = स्लेटी, 8. काला + लाल = भूरा, 9. काला + पीला = पिस्तई, 10. काला + नीला = मुश्की।

इसी तरह तीसरी श्रेणी के रंग तीन या चार रंगों की मिलावट से बनते हैं—1. अरगवानी और सब्ज मिलाने से ज़ैतूनी। 2. सब्ज और नारंजी मिलाने से तरंजी। 3 नारंजी और अरगवानी मिलाने से गंदमी। 4. सब्ज और काला मिलाने से इरदी सब्ज रंग बनता है।

रंगों की तैयारी—रंगों में स्वतः ऐसी शक्ति नहीं होती कि वह कागज़, दीवार, लकड़ी या पेपर मेशी की किसी वस्तु पर पोतने से टिकाऊ बन जायें बल्कि इस मज़बूती के लिए इनके साथ सरेश मिलाया जाता है। हर रंग के एक पौंड में दो छटांक पानी मिलाया हुआ सरेश मिलाया जाता है। रंगों को तैयार करके बारीक मलमल से छान कर साफ किया जाता है। प्रत्येक रंग के लिए चाहे अकेला (अलग से) मिश्रित एक बड़ा या छोटा प्याला होता है। पहली तह के लिए रंग कूची (बुरुश) से लीपा जाता है। फिर यों कलमों से काम करके इसे पक्का बनाने के लिए वार्निश की जाती है जो अब डिब्बों में तैयार या बनी बनाई बाज़ार में मिलती है।

मूकलम और बुरुश (कूची)—बुरुश और मूकलम जिनसे पेपर मेशी का काम किया जाता है भिन्न-भिन्न प्रकार के बालों से तैयार किये जाते हैं। गच की लिपाई background तैयार करने और वारनिश करने के लिये भिन्न-भिन्न बुरुश प्राप्त किये जाते हैं। जैसे घोड़े की दुम या गर्दन के बाल और बकरों के बालों वाले बुरुश। इस के अतिरिक्त पटसन से भी कूचियां तैयार की

जाती हैं। मूकलम के लिये बिल्ली की दुम के बाल या गिलहरी की दुम के बाल-काम में लाये जाते हैं। यद्यपि अब हर प्रकार के बुरुश और मूलकम बाज़ार में तैयार मिलते हैं लेकिन शिल्पकार प्रायः अपने ही हाथ के बनाये हुये बुरुश प्रयोग करते हैं। मूकलम आकाश में उड़ने वाली बत्तखों के परों को काट कर इनकी नलियों के भीतर से गुजार कर तैयार किये जाते हैं। कश्मीरी में इन नलियों को परगज़ करते हैं। जो वास्तव में फारसी नाम (परकाज़) है। फिर यह मूकलम पतले सिरे की ओर से आवश्यकतानुसार काटा जाता है। पानी की बत्तखों के पर भी मूकलम के मूठ के तौर पर काम में लाये जाते हैं। फूलों या डिज़ाइनों के आवरण, डलटाइयों और कूचियों के लिये यही मूकलम प्रयोग किये जाते हैं। फूलों, इनके रंगों और भिन्न-भिन्न कामों के नाम वास्तव में फ़ारसी में थे जो अब बिगड़ कर कश्मीरी में प्रयोग होते हैं जैसे परकाज की तरह जो अब परगज कहलाते हैं। 'कहरुबा' को 'सेन्दरोज़' कहते है। रोगन को वारनिश या जिलाव। इसी तरह परताज़ो को 'रख:' या शेड कहते हैं।

वार्निश—जलाव चमक को कहते हैं। जब वाटर कलर का काम सम्पूर्ण हो जाता है तो इस पर जलाव चढ़ाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि एक तो काम पक्का होना चाहिये दूसरे चमक आनी चाहिये। पुराने ज़माने में अलसी का तेल और लेई इस के लिये प्रयोग होते थे। और स्पिरिट में सेन्दरोज कूट कर मिलाया जाता था और उसी की लिपाई होती थी। सेन्दरोज़ को कहरुबा कहलाता है बिना रंग, शीशे जैसा होता है। यद्यपि अब तैयार वारनिश उत्तम श्रेणी का बाज़ार में सुलभ हैं और कूची के साथ लगाया जाता है। परन्तु सतह पर इस तरह का लेप समतल नहीं होता। इस तरह वार्निश सिलवटों में बंट जाती है। अत: इस खराबी से बचने के लिये एक ही तरीका है कि वार्निश उंगलियों से मल दी जाये। अदद पर यदि चित्रकारी के बाद वार्निश न मली जाये तो यह मिट्टी के कच्चे बर्तन की सी होती है जो पानी देखते ही ढह जाती है।

तरह (ढंग) किसी वस्तु विशेष पर जब सतह के रंग की लिपाई मूकलम से हो जाती है तो यह कला पेपर मेशी की ज़बान में 'ज़मीन' कहलाती है। इस 'ज़मीन' (आधार) पर 'तरह' का रेखाचित्र डाला जाता है। तरह की रूपानुसार वस्तु को 'वसला' कहते हैं। जब वसला पर खाना पूरा बन जाता है तो रेखाचित्र के अनुसार रंग मिलाये जाते हैं। क्योंकि फूलों के अनुसार इन को रंगों में विभाजित करना होता है। पेपर मेशी का काम बहुत सी तरहों में किया जाता है। हर 'तरह' एक विशेष वातावरण और इतिहास को अपनी गोद में समेटे हुये हम तक पहुंची हैं। कुछ तरहें इस प्रकार हैं—

गुल विलायत—इसमें गुलाब, सेब की कलियां, राना, 'वर्मि गोच' सम्बुल फूल आदि बनाये जाते हैं।

गुल अवं गुल—इस 'तरह' में भिन्न-भिन्न फूलों के गुच्छे और दस्ते बनाये जाते हैं। विशेषतय: गुलाबों के।

हजारा—हज़ार प्रकार के फूलों का डिज़ाइन अर्थात् इस तरह में अनेक प्रकार के फूल बनाये जाते हैं।

फुलै—(कलियां)—सेब, बिही, शफतालू, खोबानी, नाशपाती और गलास की कलियां।

चिनार—इसमें चिनार के वृक्ष या इसके पत्तों को भिन्न-भिन्न पद्धति से सजाया जाता है। चिनार के पत्ते रंगों या सोने चांदी के वरकों से बनाये जाते हैं।

डल—पानी, कमल, पत्ते, मछली, पानी की घास और राम चिड़िया को इसमें रखा जाता है।

पोलो—इस में पोलो (एक प्रसिद्ध खेल) खेले जाने का दृश्य दिखाया जाता है।

शिकारगाह—जंगल में तम्बू गाढ़ कर प्राय: राजा का शिकार खेलना। घोड़ों पर, हाथियों पर सवार होकर अपने सेवकों के साथ निकलना आदि दिखाया जाता है। जंगली, हिंस्र पशुओं की चित्रकारी तथा आकर्षक सुंदर वृक्षों को दर्शाने के अतिरिक्त नदी नालों और पहाड़ों का चित्रांकन इसमें खूब किया जाता है।

शाल—लम्बे, लम्बे बादाम और मेहराब, बराबर-बराबर दूरी पर रख कर एक दूसरे के सम्मुख रख कर सजाना और रिक्त स्थानों को पानी, तिल्ला या रंगों को हरीरे से भर देना इस विविधता की विशेषता है।

दरबार—इसमें बादशाहों या ईरानी शहनशाहों की राज सभाओं की चित्रकारी का चित्रण किया जाता है। साथ ही इन दरबारों से सम्बन्धित यादगारी शेर भी लिखे जाते हैं।

खय्याम—उमर खय्याम की रूबाइयां लिखना इस की विशेषता है।

लासी—अजगर (dragon), सांप और कुलमार बनाना। इस का स्रोत लहासा, तिब्बत और चीन है।

जंग—शाहनामा में वर्णन की हुई पहलवानों आदि की जंग के दृश्य या महाभारत की झलकियां, जिस में एक वीर के हाथों दूसरे के हाथ पैर या सिर कटा हुआ और तलवार ढाल आदि दिखाई जाती है।

तस्वीर—किसी भी तरह के चित्र बनाने या चित्र बनाकर इनको हाशिये फुलकारी से सुसज्जित करना इस रूप में सम्मिलित है। इसी प्रकार

दूसरी 'तरहें' यूं हैं—सोसन तरह, गेचर गोदर-हासियादार, दोफ: दोर (कम और अधिक भराव वाले गुलबन) बगलदार, अंगूरी, रंगबस्ता, नरगिसी, सूरजमुखी, चीन, जीव-जन्तु (पक्षी, पानी वाले तथा जंगली, वृक्षदार, उभार वाले, सब्ज पोश, श्रख पोश, सेन्दर पोश, रोप: पोश (चांदी के गुल बूटे) सोन: पोरा (सोने के) यह सारी 'तरहें' रंगों से बनाई जाती हैं। परन्तु आधार (ज़मीन) कहीं-कहीं सोने और चांदी के वर्कों से तैयार किया जाता है। यह वरक एक विशेष मिश्रण जिसको 'दोर' कहते हैं, मढ़ दिये जाते हैं। और अब कुछ चीजों की किस्मों के बारे में—पेपरमेशी जो कलमदान से आरम्भ हुई अब सैंकड़ों चीज़ों की शक्लों में बट गई हैं। इसकी प्रयुक्त वस्तुएं निम्नलिखित हैं—

फिगर बोल और इसका सेट—(सेट सात बर्तनों का होता है। छः बर्तन छः इंच व्यास के और एक बारह इंच व्यास का। इनकी गहराई ढाई इंच या दो इंच होती है।

टोबू—टूर और क्यंज भिन्न-भिन्न आकारों और साइज़ों में (स्टेंड वाला खाने का जैसा बर्तन)।

राईटिंग सेट—इसमें फ़ाइल कवर अर्थात् जिल्द, ब्लाटिंग होलडर, टिकट बक्स, कागज़ काटने की छुरी और पिन ट्रे आदि होते हैं।

स्टेंडर्ड लैम्प स्टेंड—(पांच फुट, तीन फुट और डेढ़ फुट की लम्बाई के चार इंच मोटे ढक्कन वाले या सुराही वाले होते हैं जो खराद पर तैयार किये जाते हैं। यह एक लकड़ी की छड़ में चूड़ियां कस कर खड़े रखे जाते हैं। यह चार, तीन और दो भागों में तह (fold) होते हैं। इनका आकार तिकोना और चूड़ीदार भी होता है।

शमा दान—अगरबत्ती दान (डिब्बा) बेन्गल (चूड़ी दान-चूड़ियां रखने का डिब्बा)।

पाऊडर बक्स—(भिन्न-भिन्न साइज़ों और आकारों में गोल, पहलूदार आदि)

पौडर सेट—(इसमें एक प्लेट पर पाउडर बक्स सिंदूर की डिबिया, साबुन की डिबिया या बिंदिया की डिबियां होती हैं)

ज्यूल बक्स—इस बक्स में गहने और मोती आदि रखे जाते हैं। मखमल लगे भिन्न-भिन्न खानों से यह बक्स भीतर से सजाया गया होता है।

शेविंग बक्स—सिग्रेट बक्स और सिग्रेट सेट। (सेट में ट्रे, सिग्रेट डब्बा, एश ट्रे और माचिस केस या लाइटर स्टेंड शामिल हैं)

कार्ड बक्स—पेन्सिल बक्स

फूलदान—मेज़ पर रखने के लिये या दीवारों पर लगाने के लिये ।

दीवारों पर लगाने के लिये बिजली के स्टैंड जिन पर शेड होते हैं ।

दीवार पर लगाने के लिये प्लेटें (wall plaques)

सिपर Shaild—Panels जिन पर प्राचीन और रहस्यमय ऐतिहासिक घटनाओं या कथा कहानियों का चित्रण किया गया होता है ।

सिलाई केस और सुई बक्स । भिन्न-भिन्न डिज़ाइनों के पेपर वेट (जैसे सेब नाशपाती या दूसरे प्रकार के)

लिफाफ दान—कलमदान pen and brush holder (क्लर्कों और आर्टिस्टों के कलमों और बुरुशों के रखने लिये)

इत्र दान—सुगंध की शीशियां रखने का डिब्बा ।

लिपस्टिक स्टैंड ।

रूमाल बक्स (Napkin ring)

नेकटाई बक्स (भिन्न-भिन्न साइज़ों के संग्रह)

चाय के डिब्बे ।

कमर बंद के कांटे । (Tissue Box)

कर्णफूल—भोजन के बर्तन गिलास glass mats (आठ, बारह, बीस और पच्चीस की संख्या में इसका एक सेट होता है ।

फूलदान—खिड़कियों और दरवाजों के plaques, भीतरी छतों की सजावट के लिये लटकाने के लिये अंडे, नाशपाती, सेब आदि ।

वेस्ट पेपर बक्स—(रद्दी का डिब्बा) पाइप हुक्के ।

तश्तरी आफ्ताबे—गिलास और प्याले आदि ।

पेपर मेशी का काम देखकर संवेदनशील मनुष्य आनंद विभोर हो उठता है और स्वाभाविक तौर से नरम, कोमल तथा सुन्दर शिल्पकला के लिये प्रशंसा करता है। ऐसा लगता है कि मनुष्य फूल तोड़ कर इसकी सुगंध से उल्लसित हो रहा है। बुलबुलें देखने वाले की ओर यों देखती है कि कहीं वह चोंच न मारें और नहीं तो फुदक कर उड़ न जायें । हाथ से बनाये हुये फूल प्राकृतिक फूलों से इतने मिलते-जुलते हैं कि बिना सुगंधि के भी आत्मा विभोर हो जाती है ।

इस कला के प्रशिक्षकों ने आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व ख़ानकाह मुआला मदीन साहब और हसनाबाद में इमाम वाड़ों को प्यार से सजाया है। इसके अतिरिक्त पैसा कमाने के लिये शेरगड़ी (पठान पेलेस) और अजायब घर को सजाया है मोटे काम के नमूने शालामार बाग की बारह दरियों में देखे जा सकते हैं । अब कुछ उन स्थानों या कारखानों के बारे में कहना उचित होगा जहां पर पेपर मेशी के क़ारीगर अपने कड़े परिश्रम स्वेद के इस कला को सींचते रहे हैं ।

पूर्व काल में कारखानों का कोई व्यवस्थित अस्तित्व नहीं था। उस्ताद घरों में रह कर अपने बच्चों को नियमानुसार अपना काम सिखाते थे। यदि किसी शिष्य की आवश्यकता भी होती तो वह भी अपने ही रिश्तेदारों में से लेते थे। यहां तक कि वह इस काम में निपुण होकर अपने घर उद्योगशाला स्थापित करता था। उद्योग शालाओं के केन्द्र श्रीनगर में विशेष तौर पर हसनाबाद, मदीन साहब, ज़डीवल और कमानगरपोरा में आज तक चलते आये हैं। परन्तु विशेष तौर सन् 1975 ई० के बाद यह काम परम्परागत नहीं रहा क्योंकि शिल्पकारों का एक निदेशालय स्थापित किया गया जिसके माध्यम से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कई प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये। प्रत्येक केन्द्र में एक प्रशिक्षक नियुक्त किया गया। उसे उचित वेतन दिया गया। प्रत्येक प्रशिक्षक के साथ एक सहायक रखा गया। प्रत्येक वह लड़का या लड़की जो इस केन्द्र में यह शिल्प सीखने की चाहना रखता हो उसे छात्रवृत्ति दी जाती है। अर्थात् सरकार ने इस शिल्प के उद्भव को बढ़ावा देने में बहुत कार्य किया है। प्रशिक्षण कोर्स पूरा करने के बाद सरकारी संगठन इन्हीं युवाओं ने स्थापित किये हैं। इन संगठनों का माल सरकारी एम्पोरियम खरीदता है। अर्थात् पेपर मेशी जो एक वर्ग विशेष में सीमित थी इससे निकल कर दूर-दूर तक अपने चिह्न डालती रही। इसके साथ ही साथ जिन शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार मिला उन्होंने अपने कार्यालयों में मिनी स्कूल आफ़ डिज़ाइन स्थापित करके इस शिल्प में चार चांद लगाये जिसका एक उदाहरण घासीयार हब्बाकदल के मुन्शी साहब की उद्योगशाला है। मुन्शी गुलाम मुहम्मद एस शिल्प में नयी दिशाओं की खोज का काम भी करते हैं। और बीसियों 'तरहों' का सम्पूर्ण ज्ञान रखते हैं। एस. पी. हायर सेकैंड्री स्कूल के एक पूर्व ड्राइंग मास्टर ख्वाजा गुलाम महीउदीन ने पेपर मेशी की कला पर बड़े परिश्रम से एक पुस्तक लिखी थी जो प्रकाशित न होने के कारण सम्भवत: नष्ट हो गई। पेपर मेशी पर यू. पी. अकादमी की ओर से आज से कुछ वर्ष पूर्व एक और आर्ट प्रशिक्षक श्री सय्यद मुरतज़ा रिजवी की लिखी हुई एक पुस्तक प्रकाशित हुई है।

पहले-पहले पेपर मेशी राजाओं, नवाबों और अमीरों के लिये होती थी। वही इसको खरीदने थे। इसके बाद इस सामान की दुकानें खोली गईं जहां से पर्यटक लोग खरीद कर अपने-अपने देशों को माल ले जाते थे। शीतकाल में कारीगर लाहौर और दूसरे स्थानों को चले जाते थे जहां वह या तो अपने अदद बेचा करते थे या किसी महल या हवेली में काम करते थे। भारत से यूरोपीय देशों के लोग यह माल खरीदते थे। इंग्लैंड, इटली और विशेषतया फ्रांस वाले पेपर मेशी से बहुत प्यार करते हैं।

इन दिनों पेपर मेशी के उद्योग में दो करोड़ रुपये से अधिक की विदेशी मुद्रा वार्षिक कमाई जाती है। विदेशों में इस की मांग बराबर जारी है सरकार

ने अपने और बाहर के देशों में एम्पोरियम खोले हुये हैं। जहां अन्य हस्त-शिल्पों के साथ-साथ पेपर मेशी का माल भी बेचा जाता है। निजी क्षेत्र में भी भिन्न-भिन्न देशों में पेपर मेशी की दुकानें खोली गई हैं जिसके फलस्वरूप इस बात की सम्भावना बढ़ गई है कि अरब देश अपने सबसे कीमती होटलों में पेपर मेशी का काम कराते हैं जहां एक-एक कमरे की नक्काशी पर लाखों रुपये खर्च होते हैं। अतः कहना न होगा कि पेपर मेशी का भविष्य अत्यधिक उज्जवल है। फिर भी इनमें कुछ कठिनाईयां आती हैं। साख्ता बनाने में खर्दि और लकड़ी के अदद कच्चा माल प्राप्त न होने के कारण या बहुत अधिक दामों पर मिलने के कारण इसकी तैयारी और लागत में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सरकार का इस की ओर ध्यान देना जरूरी है। साख्ता बनाने वाले बड़ी कठिनाइयों से घिरे हुये हैं।

कोई भी निर्यात कर्ता जब बाहर के देशों से बड़ी मात्रा में आर्डर लाता है तो यहां वह माल निर्धारित नमूने और निर्धारित समय में तैयार नहीं हो पाता या शिल्पकार इस की तैयारी में सहयोग नहीं देते। जिस से इस कला की उन्नति और गति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इस बात की ज़िम्मेदारी सरकार पर ही नहीं आर्डर वालों और शिल्पकारों आदि पर डाली जा सकती है। सरकार पर इसलिये कि जहां वह गैर पैदावारी मुद्दों पर आर्थिक सहायता खर्च करती है या सहायता राशि प्रदान करती है। वहां यदि इस पारम्परिक कला पर भी कुछ राशि का व्यय करे तो यह उद्योग कहीं अधिक उन्नत हो। कहीं से कहीं जा पहुंचे। □

अनु० आर के भारती

कलात्मक कशीदाकारी

जालकदोज़ी तथा टोप: काम

□ मुहम्मद शब्बान नूरपुरी

जालकदोज़ी तथा टोप : काम, हस्तकलाओं में उस सुन्दर कढ़ाई को कहते हैं जो धागे के काम से अस्तित्व में आती है। आजकल इन दोनों हस्तशिल्पों के लिए जो एक ही नाम प्रयुक्त होता है वह है कशीदाकारी (एम्ब्रायडरी)। कशीदाकारी एक ऐसा हस्तशिल्प है जिसमें शिल्पकार कई दिनों तथा कई बार तो कई महीनों के परिश्रम से कोई एक वस्तु तैयार करता है। काम की इस गति को देख कर प्रश्न उठता है, आज के वैज्ञानिक युग में, ऐसी वस्तुओं का कोई स्थान है या नहीं ? जबकि ऐसी वस्तुएं मशीन द्वारा कम से कम समय में और बहुत ही कम लागत से तैयार की जा सकती हैं। यहां इस के रोचक पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक है कि यदि मशीनों से ऐसे फूल बनाए जाएं जो गंध तथा सौंदर्य की दृष्टि से वास्तविक फूलों जैसे लगते हों। तो क्या यह कृत्रिम फूल वास्तविक फूल माने जा सकते हैं ? कभी भी नहीं। क्योंकि वास्तविक फूलों में जो प्राकृतिक अंश होता है वह कृत्रिम ढंग से कभी भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यदि किसी वस्तु की फोटो ली जाए और कोई चित्रकार इसका भी चित्र बनाए। दोनों वस्तुएं, फोटो तथा चित्र आकर्षक भी हों लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी चित्र फोटो से कहीं अधिक आकर्षक होगा। इस का कारण यह है कि चित्र मूलत: एक कलात्मक रचना है और इसकी यही विशेषता इसे सुन्दर तथा आकर्षक बनाती है। इसके मुकाबले में फोटोग्राफ में कला का कोई हाथ नहीं होता। यह तो किसी वस्तु की नकल होती है। और चित्र तो अपने आप में एक वस्तु है। कशीदाकारी में भी यही बात होती है। यह भी एक कला है। कला का स्पर्श

एक कलाकृति में प्राकृतिक रंग भर देता है। फिर जब यह मानवीय हाथों की कलाकृति प्रकृति का अंग लगती है तो देखने वाले को मन्त्र-मुग्ध कर देती है। उसे विश्वास नहीं होता कि ऐसी वस्तु मानवीय हाथों की कृति होगी। वह बार-बार इसे देखना चाहता है और उसे इसका आकर्षण बराबर अपनी ओर खींचता रहता है। देखने वाले को एक विचित्र आनन्द की अनुभूति होती है। मनुष्य को इसकी आवश्यकता पग-पग पर अनुभव होती है। कुछ सृजन करना, फिर उसका आनन्द भोगना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। और यही प्रवृत्ति उसे एक कलपुर्जा बनने से ही नहीं बचाती अपितु मनुष्य को शेष जनजातियों का अग्रणी भी बनाती है। कढ़ाई में भी यह गुण है। यह भी कला की कोख से जन्म लेती है। इसीलिए हाथ की कढ़ाई मशीनी कढ़ाई से बढ़िया तथा कीमती होती है। यह इस लिए है क्योंकि हाथ से की हुई कशीदाकारी में शिल्पकार की कला के साथ-साथ उसके भाव भी मिले होते हैं। ये भाव उसके हाथों के स्पर्श से उसके काम में मिल जाते हैं। देखने वाले के भावों को जागृत करते तथा उस पर एक प्रभाव छोड़ते हैं। अतः यह बात स्पष्ट है कि मशीनी कढ़ाई के आने से हाथ की कढ़ाई के महत्व पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं। यह अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण हर युग में जीवित रहने वाली है।

कशीदाकारी अन्य हस्तकलाओं की भांति ही एक प्राचीन कला है। यों प्रतीत होता है कि इस कला ने मनुष्य की नित्यप्रति के जीवन की आवश्यकताओं से ही जन्म लिया होगा। दो समय की रोटी की समस्या बहुत ही प्राचीन है। इससे ही, समय व्यतीत होते-होते, बाद में सजावट का अंश भी मिल गया होगा। यह तथ्य मध्य एशिया की प्राचीन कढ़ाई से भी प्रकट होता है। यह भी स्पष्ट है कि दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की कढ़ाई विकसित होती रही। यह सब कुछ इन स्थानों पर उपलब्ध भिन्न प्रकार के कच्चे माल की प्राप्ति तथा भिन्न-भिन्न सभ्यताओं के कारण हुआ। मिस्र की नक्काशी तथा चित्रकारी इस बात की पुष्टि करती हैं कि वस्त्रों पर प्राचीन समय से कढ़ाई होती आई है। यहीं पर अस्तानिया तथा 'बरंगा' की चित्रकारी प्रकट करती है कि वस्त्र, वाहन ओढ़न पर्दों तथा खेमों पर कढ़ाई की जाती थी। यह भी कहा जाता है कि चीन में ईसा पूर्व एक हज़ार वर्षों से पहले कढ़ाई की प्रथा थी। यहां की परम्परागत सजावट देखकर यही मत बनता है कि ईसा पूर्व छः सौ वर्ष पहले अपने पूर्ण यौवन पर थी। भारत में भी कशीदाकारी का प्राचीन इतिहास है। मोहनजोदाड़ो के स्थान पर ईसा पूर्व तीन हज़ार वर्षों से पहले जो कांसे की सूइयां मिली हैं वे पुराने ढंगानुसार इसी काम के लिये प्रयोग में लाई जाती थी। यहां तथा सिन्धु घाटी के अन्य स्थानों पर फटी पुरानी चिन्दियों के जो चिह्न मिले है वे स्पष्ट रूप में कशीदाकारी के साक्षी हैं।

कश्मीर में भी प्राचीन काल से ही कढ़ाई का काम होता आया है। अभी-

अभी ईसा पूर्व दो सौ वर्ष से पहले की जो प्लेटें हार्वन से मिली हैं और जिन पर शालें ओढ़े स्त्रियों के चित्र अंकित हैं, जो कढ़ाई के प्रभाव का प्रमाण देती हैं। लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि भिन्न-भिन्न समय में यह धन्धा, अन्य हस्तकलाओं की भांति, उन स्वाभाविक तथा राजनैतिक परिवर्तनों के कारण, जिन्होंने यहां की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक बनावट को मूलत: झंझोड़ कर रख दिया था, उपेक्षित ही रहा। चौदहवीं शती में इस्लाम के आगमन से पूर्व यहां की अधिकतर हस्तकलाएं प्राय: समाप्त हो गई थीं और बाकी कुछ जो बची थीं अन्तिम सांसों पर थीं। लेकिन बाद में जब मीर सईद अली हमदानी तथा अन्य सईद यहां पधारे तो वे अपने साथ ईरान से कुछ शिल्पकार भी ले आए थे। इन शिल्पकारों ने मृत प्राय हस्तकलाओं को नव-जीवन प्रदान किया। पन्द्रहवीं शती में तो इन हस्तकलाओं का भाग्योदय हुआ। यह वह समय था जब कश्मीर में स्वर्ण युग था और जैनुलाब्दीन का राज्य (1420 ई० से 1570 ई०) था। बडशाह साहब ने ईरान से उस्ताद कारीगरों को बुलाया और बाद में वे यहीं बस गए थे। इन प्रवीण शिल्पकारों में कढ़ाई के भिन्न-भिन्न प्रकार के लिए उस्ताद भी थे। और इन्होंने यहां की हस्तकलाओं को प्रोत्साहित तथा उन्नत किया। यों यह बात स्पष्ट होती है कि कश्मीरी कढ़ाई पर ईरान का गहरा प्रभाव है।

कढ़ाई सजावट के लिए भी प्रयोग में लाई जाती है। यह वस्त्रों पर ही होती है। वस्त्र पहनने के भी तथा अन्य प्रयोग के भी होते हैं। ये वस्त्र केवल कश्मीर में ही स्थानीय तौर पर पसन्द नहीं किए जाते अपितु अपनी मनमोहक साज-सज्जा के कारण विश्व के कोने-कोने में इनकी मांग है। इसका कारण है यहां की अद्वितीय नमूनासाज़ी। हालांकि इन डिज़ाइनों में रेखा गणित के आकार भी होते हैं लेकिन अधिकतर इनमें पुष्प-सज्जा का काम होता है। दोनों प्रकार के डिज़ाइनों में कश्मीर के स्थानीय रंग ही भारी होते हैं। ये प्रकृति के अधिक समीप होते हैं और शिल्पकार इन्हें बहुत परिश्रम तथा लगन से उभारते हैं।

किसी भी वस्त्र पर कढ़ाई करने से पहले उस पर वे डिजाइन डाले जाते हैं जिन्हें कढ़ाई में उभारना हो। यह सारा काम कागज़ के स्टेंसलों की सहायता से किया जाता है। इसके बाद शिल्पकार सूई अथवा आरी से भिन्न रंगों के धागे घुमाकर पुष्प-सज्जा करता है और अन्त में धोने के बाद यह एक मनमोहक वस्तु बन जाती है।

जिन वस्त्रों पर कढ़ाई की जाती है, उनकी सामान्य भाषा में दो किस्में होती हैं। एक उन वस्त्रों की है जो फ़र्श अथवा पर्दों के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। इन पर कढ़ाई भी मोटे रूप में की जाती है। इस काम को ज़ालकदोज़ी कहते हैं। दूसरी प्रकार उन वस्त्रों की है जो पहनने, ओढ़ने अथवा लपेटने के

काम आते हैं। इन पर हुई कढ़ाई भी कोमल तथा बारीक होती है और इसे ही टोप:-काम कहते हैं।

जालकदोज़ी—जालकदोज़ी को 'यरम' काम भी कहा जाता है। यह केवल आरी से ही की जाती है। इसमें फूलों की कढ़ाई के लिए रंगदार ऊनी धागा लगाया जाता है। फूल कई प्रकार के बनाए जाते हैं। किसी वस्त्र पर उड़ते पक्षियों के चित्र बनाए जाते हैं। किसी पर जंगली जानवर और अधिकतर कश्मीरी फलों, फूलों, पौधों, पत्तियों तथा भिन्न-भिन्न फलों की आकृतियां बनाई जाती हैं। इनमें से चिनार के पत्तों, शहतूतों, बादाम आदि आकृतियों को प्राय: उभारा जाता है। ये फूल अंशत: उसी रूप में नहीं बनाए जाते जो इनका होता है। इसके विपरीत डिज़ाइन बनाने वाले इन्हें कलात्मक रंग में रंग कर ऐसा वैविध्य उत्पन्न करते हैं जो बाद में एक नई ही वस्तु बन कर उभरते हैं। ऐसे शाखाओं वाले वस्त्र बहुत ही मनमोहक लगते हैं।

जालकदोज़ी में कुल चार प्रकार के वस्त्र बनाए जाते हैं—नमदा, गब्बा, करिऊल, कशीदाकारी तथा फ़र की वस्तुए।

नमदा—नमदा एक कपड़ा सा होता है जो फ़र्श पर बिछाने के काम आता है। यह चौकोना, गोल, छोटा तथा बड़ा होता है। प्राय: यह $2' \times 3'$, $3' \times 4'$, $4' \times 6'$, $6' \times 9'$ और $9' \times 12'$ के आकार में होता है। एक नमदे का वज़न एक किलो से लेकर आठ किलो तक हो सकता है।

नमदा ऊन तथा रूई से बनाया जाता है। इसमें ऊन का होना मुख्य है। ऊन के बिना नमदा बन ही नहीं सकता। रूई तो केवल जोड़ने के लिए ही मिलाई जाती है। इसके अतिरिक्त रूई से नमदा अधिक देर तक चलने वाला बन जाता है। सजावट के अतिरिक्त नंमदा गर्मायश भी देता है और इसीलिए इन्हें शीत काल में ही प्रयोग में लाया जाता है। इसको बनाते समय नमदागर ऊन तथा रूई की अलग-अलग धुनाई करता है और फिर उन्हें मिलाता है। अथवा बिना मिलाए ही इन्हें काम में लाता है। किसी पतजी अथवा चटाई पर इसकी एक सतह बिछाता है और उस पर साबुन वाला पानी छिड़कता है। फिर इस पर हाथ फेरता है। फिर इस पर एक और परत बिछा कर इस कार्य को दोहराता है। यों आवश्यकतानुसार वह दो चार परतें बिछाता है। फिर दशियां निकाल कर रख देता है। इसके बाद नमदगार नमदे वाली चट्टाई को गोलाकार लपेट कर रस्सी से बांध कर रख देता है। बांधने के बाद वह चटाई को पांव से रौंदता हुआ इधर-उधर धकेलता रहता है। पर्याप्त समय तक रौंदने के बाद वह चटाई की रस्सी खोलकर इसे पूरी सीधी कर देता है और इसमें से नमदे को उठा लेता है। फिर इसे सुखाने के लिये धूप में डाला जाता है। सूखने के बाद नमदे पर डिज़ाइन डाले जाते हैं। फिर इन पर आरी

से इकहरा कई रंगों का ऊनी धागा फेरा जाता है। कढ़ाई के बाद इसे खूब मलमल कर धोया जाता है। और अन्त में यह एक सुन्दर डिज़ाइन वाला नमदा बन जाता है।

नमदासाज़ी मध्य एशिया में ही अस्तित्व में आई है। वहां से ही यह कश्मीर तक पहुंची थी। मध्य एशिया में बहुत समय पहले नमदे का व्यापार आरम्भ हो गया था। सामान्य विचार यही है कि यह समय ईस्वी काल का आरम्भ ही होगा। नमदे का यह व्यापार कश्मीर द्वारा ही शेष दुनिया से किया जाता था। उन्नीसवीं शती के आरम्भ तक यारकंद से बड़ी संख्या में यहां नमदे मंगवाए जाते थे। लेकिन बाद में यह संख्या कम हो गई थी। प्रथम महायुद्ध (1914-1918 ई०) के बाद मध्य एशिया से और अधिक नमदों का माल कश्मीर में आयात किया गया था। 1929 ई० से अमरीकी भी कश्मीर से नमदे खरीदने लगे थे। यों शीघ्र ही यह देश मध्य एशिया के नमदों का एक मुख्य खरीदार बन गया था। इन नमदों को असली कश्मीरी नमदे कहते थे। इसका कारण यह था कि मध्य एशिया से जो नमदे यहां मंगवाए जाते थे वे रूप में साधारण हुआ करते थे। उन पर यहां ज़ालकदोज़ी करके अन्य देशों को भेजा जाता था। व्यापारियों के कथनानुसार सन् 1940-41 में एक भी नमदा वहां से यहां नहीं आया था। क्योंकि यहां नमदों की मांग बराबर बढ़ रही थी इस लिए स्थानीय तौर पर श्रीनगर में नमदे का उद्योग स्थापित किया गया। इससे पहले भी यहां कुछ घटिया किस्म के नमदे बनते थे। लेकिन इनकी संख्या उन नमदों से बहुत कम थी जो मध्य एशिया से आयात किए जाते थे। सन् 1929 से कुछ कालबाफ़ों (कालीनसाजों) ने भी इस ओर ध्यान दिया और यों इस उद्योग की उन्नति होने लगी। सन् 1938 में जब यहां नमदागरी के उद्योग ने अपने पक्के पांव जमा लिए तो स्थानीय नमदासाजों का उत्साह बढ़ा। यह व्यवसाय विकसित हुआ और यों कश्मीर के अपने नमदे विख्यात हो गए। आजकल यहां लाखों रुपये के नमदे प्रति वर्ष तैयार होते हैं और ये नमदे भारत के अधिकतर राज्यों के अतिरिक्त व्यापारियों द्वारा अन्य देशों में भी पहुंचते हैं।

गब्बा—गब्बा एक सजावट की वस्तु है और यह साधारणत: कमरे के फर्श पर बिछाने के काम आता है। कभी-कभी इन्हें पर्दों के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है। गब्बा किसी कपड़े पर आरी से काम करके बनाया जाता है। यह कपड़ा दो प्रकार का होता है। एक तो पट्टू के टुकड़ों को जोड़ कर बनाया जाता है। ये टुकड़े पृथक-पृथक रंगों में रंगकर यों जोड़े जाते हैं कि देखने वाले को पता ही नहीं चलता कि गब्बा टुकड़ों को जोड़ कर बनाया गया है। या यह पूरी की पूरी लोई अथवा कम्बल का भी बनाया जाता है। गब्बासाज पहले इसे रंगता है और फिर विविध रंगों के ऊनी धागे फेर कर आरी से इस पर सुन्दर गुलकारी करता है। इस प्रक्रिया को 'फ़ीता काम' कहते हैं। इसमें गब्बासाज अपनी इच्छा

तथा आवश्यकतानुसार दोहरा अथवा तिहरा ऊनी धागा लगाता है। इस काम के गब्बे कश्मीर में बहुत पसन्द किए जाते हैं। लोग ऐसे गब्बे फरमाइश पर तैयार करवाते हैं अथवा बने बनाए खरीदते हैं। दूसरे प्रकार के गब्बे दसूती कपड़े पर ऊनी एकहरा धागा आरी से छुआ कर बनाए जाते हैं। इस प्रकार के गब्बे को 'चेन स्टिच' गब्बा कहते हैं। चेन स्टिच गब्बे तथा सामान्य गब्बे में कपड़े के अन्तर के अतिरिक्त इन पर किए गए काम में भी अन्तर होता है। चेन स्टिच गब्बे पर तिहरे धागे से यों कढ़ाई की जाती है कि अन्त में दसूती कपड़े का मुंह माथा ही नजर नहीं आता। इस काम में कभी तो ऊनी धागे के स्थान पर स्टेपल का प्रयोग भी किया जाता है। ऐसे गब्बे कालीन जैसे लगते हैं। पर इस पर कालीन की अपेक्षा बहुत कम लागत आती है। यह पृथक-पृथक आकार के बनाए जाते हैं और बड़े से बड़ा गब्बा 9′ × 12″ आकार का होता है। गब्बे को अस्तर चढ़ा कर उसमें रूई भी भरी जाती है और यों यह भी आरामदेह वस्तु बन जाती है।

गब्बा साज़ी के प्रारम्भ के विषय में कोई ऐतिहासिक सन्दर्भ प्राप्त नहीं है। हां कुछ लोक परम्पराएं हैं। कुछ किंवदंतियां हैं। एक किंवदंती यह भी है कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व इस्लामाबाद में एक निर्धन व्यक्ति रहता था और उसका नाम लस तोता था। कहते हैं कि गरीबी के कारण इसने बिछौना बनाने के लिए कई रंगों की चिन्दियों को एक दूसरी से जोड़ लिया। यह एक नई प्रकार की वस्तु बन गई। जब दूसरे लोगों ने इस वस्तु को देखा तो वे सोच में पड़ गए। उन्होंने भी ऐसे ही बिछौने बनाने आरम्भ कर दिए और यों कश्मीर में गब्बे की परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा से इस बात की पुष्टि होती है कि गब्बा विश्व को कश्मीर की देन है। दूसरी किंवदंती यह है कि काबुल का एक विस्थापित अब्दुल रहमान यहां आया। वह यहां एक गांव में रहा और यहां उसने जालकदोज़ी करके ज़ीन तैयार करवाई और यों गब्बे का बनना आरम्भ हो गया। एक और घटना इस विषय में यों बताई जाती है एक दिन महाराजा गुलाब सिंह (1850-55 ई०) एक गांव से जा रहा था। गांव के मुखिया ने महाराजा को फल का रस तथा दूध भेंट किया। इसके बाद जब महाराजा वहां से चला तो उसने मुखिया से वह गब्बा मांगा जिस पर वह बैठा हुआ था। इस घटना से इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय गब्बासाज़ी के उद्योग ने कश्मीर में अच्छी उन्नति की थी। चेन स्टिच का गब्बा यहां अभी-अभी बनना आरम्भ हुआ है। कश्मीर में गब्बे का अधिक काम इस्लामाबाद मे किया जाता है। श्रीनगर, बारामूला तथा कश्मीर के कई अन्य स्थानों पर गब्बे बनने शुरू हो गए हैं। शुरू शुरू में जो गब्बे बनाए जाते थे उनका स्तर ऊंचा नहीं होता था। लेकिन बाद में जब इस हस्तकला ने उन्नति की तो ऐसे गब्बे बनाए गए तो धनी लोग भी इन्हें खरीदने लग पड़े। आजकल यहां के लोगों के अतिरिक्त

यूरोपी पर्यटक भी खरीदने लग पड़े हैं और यों कश्मीर के गब्बे अब पूरे विश्व में विख्यात हो गए हैं। लाखों रुपये के गब्बे प्रति वर्ष कश्मीर से निर्यात किए जाते हैं। इनमें सामान्य गब्बों के अतिरिक्त चेन स्टिच के गब्बे भी शामिल होते हैं।

करिऊल का काम—इस काम में सूती कपड़े पर आरी के काम द्वारा बहुत-सी वस्तुएं बनाई जाती हैं। उदाहरणत: पर्दे, बैग, मेज़पोश, कुशन, गिलाफ तथा बैडशीट आदि। इसकी कढ़ाई के लिए एकहरा ऊनी धागा प्रयोग होता हैं। यह काम चाहे कश्मीर में अभी नया ही है लेकिन फिर भी ये वस्तुएं खुले रूप में पसन्द की जाती हैं। आवश्यकतानुसार प्रत्येक स्थान पर इनका खुला प्रयोग होता है। इस काम को अब कश्मीर से बाहर दूसरे प्रदेशों में बहुत पसन्द किया जाता है।

फ़र का काम—फ़र का काम एक प्राचीन व्यवसाय है। जब व्यक्ति कन्दरों तथा गुफाओं में रहता था तब वह पशुओं का शिकार करता था। इससे एक तो वह अपनी क्षुधा शांत करता था और दूसरा वह पशुओं की खालों से अपना तन ढकता था ताकि शीत से बच सके। आजकल भी इस उन्नति के युग में व्यक्ति जानवरों का शिकार करता है तथा इनकी खालों को पहनने के लिए वस्त्र बनाता है। कश्मीर में बहुत जंगल हैं। इनमें भांति-भांति के जंगली जानवर होते हैं। इनमें से शेर, लोमड़ी, खरगोश तथा भालू उल्लेखनीय हैं। इनकी खाल को फ़र कहते हैं। इनके अतिरिक्त बिल्ली, गीदड़ तथा जंगली बिल्ली की खाल फ़र के काम के लिए प्रयोग में लाई जाती है। पालतू जानवरों से मेमने की खाल इस काम के लिए प्रयुक्त होती है और इसे 'टिम्बर' कहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इस काम के लिए एक नयी किस्म का मसाला बनाया गया और इसे 'रैगज़ीन' कहते हैं। यह मसाला खलड़ी तथा क्रोम रसायन के मिश्रण से तैयार किया जाता है। यह नया मसाला चमकदार तथा कोमल होता है। इसके शुरू होने से इस व्यवसाय में नवीनता आ गई और यह काम अब सारे विश्व में फैल गया है। इस काम के लिए कश्मीर में रैगज़ीन बाहर से मंगवाया जाता है। इन सभी प्रकार के चर्म से अधिक प्रकार के कपड़े सीए जाते हैं। उदाहरणत: कोट, जैकट, दस्ताने, बैग, पर्स, टोप, घर के भीतर पहनने वाली चप्पल, स्लीपर, बूट, कमर बन्द, तथा कुशन कवर आदि। फ़र की इन वस्तुओं पर बाद में स्टेपल धागे से जालकदोज़ी की जाती है। इससे यह वस्तुएं और अधिक सुन्दर तथा मनमोहक लगती हैं। ये वस्तुएं दुनिया में सभी स्थानों पर पसन्द की जाती हैं। हर वर्ष करोड़ों रुपयों से अधिक मूल्य की भांति-भांति की वस्तुएं बनाई जाती हैं। और फ़र का यह सामान व्यापार द्वारा विश्व के कोने-कोने तक पहुंच जाता है।

टोप: कढ़ाई—यह काम प्राय: सूई से तथा कहीं-कहीं आरी से भी किया जाता है। इसमें स्टेपल धागे का खुला प्रयोग होता है लेकिन जब पश्मीने का काम हो तो रेशमी धागा प्रयुक्त होता है। 'ज़रदोज़ी' में तिल्ले के धागे की आवश्यकता पड़ती है। टोप: काम में वही टहनियां बनाई जाती हैं जो ज़ालकदोज़ी की कढ़ाई में प्रयुक्त होती हैं। लेकिन टोप: काम बहुत नाजुक तथा बारीक होता है। इसीलिए इसकी टहनी बहुत सजावट तथा कोमलता से बनाई जाती है। इसकी कढ़ाई ओढ़ने वाले शालों तथा पहनने वाले वस्त्रों पर की जाती है। जो टोप: काम सूई से किया जाता है उसे सोज़नी काम अथवा सोजनकारी कहते हैं। और जो काम आरी से किया जाता है उसका नाम है आरी काम।

सोज़नकारी—सोज़नकारी का काम, आरी काम से बहुत कोमल होता है। इसमें आरी के काम की अपेक्षा धागा भी बारीक लगता है। इस काम को पूरा करने में समय भी अधिक लगता है। इसलिए यह काम बहुत सुन्दर भी होता है। सोज़नकारी के दो भाग हैं—एक रंगर काम और दूसरा ज़रदोज़ी।

रंगर काम—रफल अथवा पश्मीने के शालों पर की गुलकारी को रंगर काम कहते हैं। वस्त्र मर्दाना भी तथा जनाना भी होते हैं। रफ़ूगरी इन दोनों प्रकार के वस्त्रों पर की जाती है। इस काम को 'दहू' डालना कहते हैं। पुरुषों के वस्त्रों से कुर्ते, कोट, चोगे (गाऊन) और गुलूबन्द पर तथा कुर्ते के गले, बाजू तथा कफ, कोट पर यह काम होता है और जाता है। इन वस्त्रों पर स्टेपल चोगे के गले, बाजू, कफ और सामने के दो जुड़ते भागों पर, गुलूबन्द के दोनों छोरों और कहीं-कहीं बीच-बीच कढ़ाई के लिए प्रयोग होते हैं। स्त्रियों के वस्त्रों में यह काम फ्राक, फिरन, चोगे, रूमाल तथा साड़ी (रेशमी तथा अन्य कीमती दुपट्टे) जैसे वस्त्रों पर किया जाता है। उक्त वस्त्रों में से यह काम फ्राक तथा फिरन के गले, बाजुओं तथा साड़ियों और रूमालों के बीच-बीच किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह काम गिलाफों, बैगों, और तकियों पर भी किया जाता है। पुराने रिवाज के प्रकाश में देखा जाए तो तो रफ़ूगरी ने शालों की कढ़ाई करके ही नाम कमाया है। प्राय: यह शालों पर ही की जाती है। इसीलिए यह एक हस्तशिल्प के रूप में जानी जाती है।

शाल, ओढ़ने का एक सुन्दर तथा सजावटी वस्त्र है। यह शोभा के अतिरिक्त गर्मायश भी देता है। इसीलिए यह सर्दी में ओढ़ा जाता है। सामान्यत: शाल दो आकार के होते हैं। मर्दाना शाल $3 \times 1\frac{1}{2}$ गज़ तथा स्त्रियों का शाल 2×1 गज़ होते हैं। इन शालों की रफ़ूगरी कम हो जाती है, लेकिन आवश्यकतानुसार यह अधिक भी हो सकती है। जिस शाल के दोनों छोरों पर कढ़ाई हुई हो उसे पलदार शाल कहते हैं और जिसके चारों छोरों पर

काम हुआ हो उसे दूरदार शाल कहते हैं। यह दूर (कांटा) छोटा भी और बड़ा भी हो सकता है। प्रायः बादाम दूर और चिनार दूर की कढ़ाई होती है। किसी शाल पर 'दूरों' की कढ़ाई के अतिरिक्त चारों कोनों पर धागा घुमाया जाता है। ऐसे शाल भी बनाए जाते हैं जिनके मध्य बेल-बूटे निकाले जाते हैं जो छोटे भी और बड़े भी हो सकते हैं। इन शालों को बूटियां वाले शाल कहते हैं। छोटी बूटी की कढ़ाई को फुलकारी कहते है। अधिक शालों के सारे कपड़े पर गुलकारी की जाती है। ऐसे शाल को जामा अथवा जामावार कहा जाता है। इसके मुकाबले जिस शाल पर अधिक गम्भीर काम न हुआ हो उसे जाली जाम कहते हैं। ये सारे काम दो प्रकार के होते हैं। मोटे चालू काम को 'वटोचिकन' कहते हैं और यह दूसरी प्रकार का काम बहुत सूक्ष्म तथा स्थायी होता है और इसे रेज़कारी भी कहते हैं। यह प्रायः पश्मीने के शालों पर किया जाता है। यह काम सटेपल के स्थान पर रेशमी धागे से किया जाता है। कहीं-कहीं इसमें सटेपल का प्रयोग भी होता है। इस प्रकार का शाल बिना उल्टे सीधे, दोनों ओर से एक जैसा होता है। इसलिए इसे दो रुखा भी कहा जाता है। रफूगारी से एक प्रकार का कानी शाल भी बनाया जाता है। यह बहुत से पश्मीने के टुकड़ों को जोड़कर तैयार किया जाता है। पश्मीने की यह छोटी-छोटी चिन्दियों को यों जोड़ा जाता है कि देखने वाले को पता ही नहीं चलता कि शाल चिन्दियों को जोड़कर बनाया गया है।

कश्मीर में 'अमलकार' अथवा कढ़ाई शाल के अस्तित्व में आने सम्बन्धी कई मत है। एक मत यह है कि अकलकार शाल अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अस्तित्व में आए। कहते हैं कि अफ़गान काल में जब यहां आज़ाद खान राज्यपाल (सन् 1775-83) था तो एक दिन एक कश्मीरी 'शालबाफ' अली बाबा ने एक पशु को सफेद कपड़े पर चलते देखा। इस कपड़े पर पशु के पांवों के चिन्ह पड़ गए। यह देख कर उस उस्ताद शालबाफ को इन चिह्नों को रंगीन धागे से भरने की सूझी। यों उसने पहले सूई से सोज़नी शाल बनाया। कश्मीरी शालबाफ इस उस्ताद शालबाफ को 'सईद बाबा' भी कहते हैं। यह श्रीनगर के सोकाली पुरे में रहता था। शाल बनाने का यह ढंग बाद में लोगों में बहुत प्रचलित हुआ और शाल बनाने वाले ऐसे ही शाल बनाने लगे। इस प्रकार के शाल को उस समय के कानी शाल के खर्चे का तीसरा भाग लगता था और साथ ही कानी शाल से कम परिश्रम करने की आवश्यकता पड़ती थी। दूसरा मत यह है कि सोलहवीं शताब्दी में जब यहां राजा हैदर का राज्य था तथा एक विशेषज्ञ शालबाफ नाकद बेग, केकंद रूसी तुर्किस्तान से कश्मीर आया हुआ था। उसने रंगदार शाल बनाने के बहुत से नमूने यहां दिखाए थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि शाल की कढ़ाई यहां बहुत समय पहले प्रारम्भ हुई है। सन् 1803 में अमीना से एक व्यापारी ख्वाजा यूसुफ कश्मीर आया। इसने यहां अमलकार

शालों के और भी बहुत से नमूने दिखाए। इससे इस काम को और प्रोत्साहन मिला। सिक्ख राज्य समय (सन् 1819-46) शाल कढ़ाई अपने पूर्ण यौवन पर थी। सब से सुन्दर तथा बढ़िया शाल महाराज रणजीत सिंह के राज्य में बनाए जाते थे। उसने अपने लिए एक ऐसा शाल बनवाया जिस पर इसकी सारी विजयों को अंकित किया गया था। यह शाल बनाने वाले को महाराज ने पचास हज़ार रुपये दिए थे। पहले-पहले एक ओर वाला शाल ही बनाया जाता था जो केवल एक ओर से ही ओढ़ा जाता था। इसका सीधा उल्टा पृथक् होता था। उल्टी ओर से सामान्य-सी गुलकारी होती थी। इस ओर से फूल अधिक उघड़े नहीं होते। सन् 1864 में महाराजा गुलाब सिंह के समय दो-रुखा शाल बनवाया गया। यह शाल मुस्तफा पण्डित तथा अज़ीज़ पण्डित का सांझा आविष्कार था। इस शाल के दोनों ओर गुलकारी होती हैं, इसलिए यह दोनों ओर से ओढ़ा जा सकता है।

ज़रदोज़ी—इसे तिल्ला निकालना भी कहा जाता है। इसकी कढ़ाई के समय पहले कागज़ी स्टैनसलों से ठप्पे डाले जाते हैं। ठप्पे कई प्रकार के होते है, छोटे भी तथा बड़े भी। लेकिन इसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि कौन से कपड़े पर कितने तोले तिल्ला प्रयोग करना है और फिर इसी आधार पर छोटे अथवा बड़े नमूनों के ठप्पे डाले जाते हैं। इस कार्य के लिए दो प्रकार का धागा प्रयोग किया जाता है। एक तो असली तिल्ले का धागा जो सीधी ओर के लिए प्रयोग किया जाता है। यह सफ़ेद तथा पीले रंग का होता है। वास्तव में यह तिल्ले की तार रेशमी धागे पर चांदी की एक परत होती है और इसीलिए इसे चांदी तिल्ला कहते हैं। दूसरा धागा तिल्ले को बन्द करने के लिए लगाया जाता है। यह कपड़े की उल्टी ओर से दिखाई देता है। यह धागा रेशमी अथवा सूती होता है। रेशमी को कोर तथा सूती को रेल कहते हैं।

आरी का काम—यह काम रफल के शालों तथा कपड़ों पर किया जाता है। जैसा सूक्ष्म अथवा स्थूल काम हो उसी प्रकार की मोटी अथवा छोटी आरी का प्रयोग किया जाता है। आरी के काम में भी वही नमूने डाले जाते हैं जो सोज़नकारी का शृंगार बनते हैं। यह काम सटेपल धागे के अतिरिक्त कभी-कभी ऊनी धागे से भी किया जा सकता है। आरी का काम शालों के अतिरिक्त फिरन, फ्राक, कुर्तों, कोटों, चोगों, साड़ियों तथा अन्य कई वस्तुओं पर किया जाता है। □

अनु० दीदार सिंह

कश्मीर में शालबाफी

□ प्रो० अब्दुल अहद

कश्मीर हस्तशिल्प के लिए विश्व-विख्यात है। यहां की दस्तकारी के नमूने जगह-जगह पहुंच कर कश्मीर के कारीगरों का गौरव बढ़ाते हैं और कश्मीरियों के आर्थिक जीवन को खुशहाल और मजबूत बनाने में सहायक होते हैं। इन हाथ से बनी वस्तुओं में शाल अप्रतिम है।

कश्मीर के शाल ने कश्मीर का आर्थिक स्तर सुदृढ़ करने और यहां की प्रसिद्धि को दूर-दूर फैलाने में बड़ा योगदान दिया है। इस पर जितना भी गर्व किया जाए कम है। पहले समय में कश्मीर में बहुत से लोग शालों के काम में व्यस्त रहते थे और इसके साथ उनके जीवन की ज़रूरतें पूरी होती थीं। जार्ज फोर्सटर के अनुसार किसी समय श्रीनगर की लगभग सभी स्त्रियां शालों के लिए धागा कातने में व्यस्त रहती थीं। इसी तरह यूरोप के लोगों को नेपोलियन के समय (1796 ई०) तक कश्मीर के शालों के बारे कुछ अधिक ज्ञान नहीं था। फिर जैसे ही कश्मीरी शाल नेपोलियन की पत्नी जोज़फिन के हाथ में पहुंचा तो कश्मीरी शालें अपने अनूठे शिल्प सौंदर्य के लिए यूरोप भर में चर्चित हो उठीं। यही हाल उस समय हुआ जब सुलतान जैन-उल-आबदीन, 'बडशाह' ने यह पहली बार एशिया में भेजी। वहां पहुंचने पर यह बड़ी खुशी के साथ वहां के शाही लिबास में शामिल की गई।

शालबाफी ने कश्मीर में कब जन्म लिया और कैसे फली-फूली, यह कुछ ऐसे विशेष प्रश्न हैं जिनके उत्तर इतिहासकार भी सही तरह नहीं दे सकते। आज तक इतिहासकार यही लिखते रहे हैं कि जन्म स्थान और आरम्भ केन्द्रीय एशिया ही है और इसे कश्मीर में सुलतान ज़ैन-उल-आबदीन ही लाए। इतिहासकारों का कहना है कि जब तैमूर ने उत्तरी भारत के बहुत से राज्यों को अपने अधिकार में ले लिया तो सुलतान सिकन्दर के दिल में चिन्ता पैदा हो

गयी। वह घबरा गया और उसने अपने बेटे शहज़ादे शाही खान को अनगिनत तोहफे दे कर तैमूर के दरबार में भेजा। इतिहासकारों का कहना है कि जैसे ही शाही खान (बडशाह) समरकंद पहुंचा तो उसी समय तैमूर ने उसे कैद कर लिया। खैर, जेल से छूटने के बाद उसको (इतिहासकारों के अनुसार) समरकंद और मध्य एशिया के विभिन्न शिल्पकारों की कलाओं के नमूने देखने और भरपूर निरीक्षण करने का अवसर मिला। इतिहासकार कहते हैं कि समरकंद की शालबाफी को देखकर शाही खान इतना प्रभावित हुआ कि सुलतान बडशाह बनने के बाद उसने इस कला को कश्मीर में लाने का पूरा प्रबन्ध किया। कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि शालबाफी कश्मीर में मिर्ज़ा हैदर के काल में प्रचलित हुई और कुछ तो यह भी कहते हैं कि इस कला के प्रवर्तक शाह हमदान साहिब थे।

जब हम इन सभी बातों का विवेचन करते हैं तो इन में कोई ऐतिहासिक सच्चाई नहीं मिलती और यह बातें कल्पित ही प्रतीत होती हैं।

वैज्ञानिक आधार पर हुई खोज ने यह बात पूरी तरह से स्पष्ट कर दी है कि शाही खान (बडशाह) को समरकंद नहीं भेजा गया था और न ही व्यक्तिगत स्तर पर उसे मध्य एशिया की कलाओं की जानकारी प्राप्त करने का अवसर ही मिला।

दूसरे यह कि अगर शालबाफी का आरम्भ सुलतान जैन-उल-आबदीन ने किया होता तो यह सम्भव नहीं था कि इस कला का उसके ज़माने में ही विकास हुआ होता और कश्मीर से बाहर व्यापार का एक माध्यम बना होता। जैन-उल-आबदीन ने लगभग पचास वर्ष राज्य किया। यह समय एक कला के सम्पूर्ण विकास और उन्नति के लिए बहुत ही कम है। विशेषतया उस समय जब टैक्सटाईल इन्जीनियरी और तकनालॉजी ने अभी विकास नहीं किया था और जब सामंतशाही व्यवस्था की वजह से आवा-गमन आदि निम्न स्तर का और अविकसित ही था।

सुलतान जैन-उल-आबदीन या मिर्ज़ा हैदर या शाह हमदान साहिब को कश्मीर में शालबाफी के जन्मदाता बतलाना ऐतिहासिक तौर पर सही नहीं। यह बातें वास्तव में फ़ारसी में लिखने वाले इतिहासकारों ने लिखी हैं। इन लेखकों का मूल उद्देश्य था सुलतान जैन-उल-आबदीन साहिब या शाह हमदान साहिब की सच्चाई से अधिक प्रशंसा करना और इनको मध्यकालीन कश्मीर की प्रगति का श्रेय प्रदान करना। शालबाफी की कला बहुत पहले भी मौजूद थी और यह उस समय उन्नत हो चुकी थी जब यहां हारवन की सभ्यता अपने शिखर पर थी। इस बात की पुष्टि उन टाईलों से होती है जो हमें हारवन से प्राप्त हुई हैं। इन टाईलों पर स्त्रियों के चित्र मौजूद हैं। इन स्त्रियों ने ऐसे बारीक और सूक्ष्म वस्त्र पहने हुए हैं, जिनमें से उनका शरीर दिखाई देता है।

कुछ स्त्रियों ने शाल के स्कार्फ लपेटे हुए हैं। हारवन की टाईलों से यह बात भली-भांति प्रकट होती है कि कश्मीर में पुरातन काल से सूक्ष्म और बारीक कपड़ा ओढ़ने का रिवाज मौजूद था।

प्राचीन चिह्नों के स्रोतों के अतिरिक्त हस्त-लिखित ऐतिहासिक स्रोत हमारे इस मत की पुष्टि करते हैं। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग जो कश्मीर में सातवीं ई० में आया उसने इस बात का वर्णन किया है कि कश्मीर में उस समय ऊन का बारीक कपड़ा बुना जाता था। उसके कथनानुसार—

'कश्मीरी लोगों के पहनावे की सामग्री का नाम काउशेआ था और मल-मल (ताएह) और (पू) सूती काउशेआ जो जंगली रेशमी कीड़े से प्राप्त किया रेशम; चरा (या चू-मो) कोहामा एक प्रकार की लिनेन; हान (या कान) पो-लो जंगली जानवर की बढ़िया ऊन की बुनावट। यह ऊन मुलायम और कोमल होने के कारण पहनावे की अनमोल सामग्री के रूप में बड़ी आसानी से काती और बुनी जा सकती थी।''

हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों के अनुसार शाल कश्मीर में रामायण महा-भारत के समय बुनी जाती थी। इसकी इतनी प्रसिद्धि थी कि यह सीता का परिधान बन गयी। यह भी कहा जाता है कि कौरवों ने पांडवों को लगभग दस हजार शालें दीं।

कश्मीर के मौसम और यहां के पानी के रासायनिक गुण पश्मीने के शाल की बुनाई के बहुत अनुकूल थे। बर्नियर जो सतरहवीं शती ई० में औरंगज़ेब के साथ कश्मीर में आया, कश्मीर के हवा-पानी के गहन अध्ययन के उपरान्त इस निर्णय पर पहुंचा कि कश्मीरी शाल की भव्य सुन्दरता केवल उसके पानी का परिणाम है, जो संसार में और किसी भी जगह नहीं मिलता। याद रहे कि यूरोप की बहुत सी कौमों ने ऐसी शालें बनाने की कोशिश की लेकिन वह इस कोशिश में सफल नहीं हुई, क्योंकि उनके देशों में कश्मीर जैसा जलवायु उपलब्ध नहीं था।

इसके अतिरिक्त पश्मीने की ऊन कश्मीर के बिना और कहीं नहीं भेजी जाती थी। चानथन और रोदोख के गडरिये यह ऊन केवल कश्मीर ही भेजते थे। उनका इस बात में विश्वास था कि अगर कभी उन्होंने पश्मीने कश्मीर के अतिरिक्त और कहीं भेजे तो हो सकता है, प्रकृति उनको इस ऊन से वंचित कर दे।

इन सभी बातों से पता चलता है कि शालबाफी कश्मीर में पुरातन काल से ही मौजूद थी। बडशाह के समय से पहले ही कश्मीरी शालें दिल्ली के प्रमुख और पवित्र स्थलों में काफी परिचित थीं। ख्वाजा मुहईउद्दीन चिश्ती जैसे महान् बजुर्ग भी यही ओढ़ते थे। वास्तव में शालें पहले से ही बुज़ुर्गों, दरवेशों, सादातों और धार्मिक प्रमुखों की पवित्र पोशाक मानी जाती थीं। यह बुज़ुर्गी और दरवेशी का प्रतीक समझी जाती थीं।

मुग़ल बादशाह अकबर ने जब दीन-इलाही जारी किया, उसने कश्मीरी शाल लपेट कर ही बुज़ुर्गी का दावा किया। इस बात को स्पष्ट करते हुए अबू-उल-फज़ल लिखता है कि अकबर बादशाह ने बुज़ुर्गी और दरवेशी दरशाने के लिए शाल ओढ़नी आरम्भ की। खैर, अकबर का विरोधी इतिहासकार अबदुल कादिर बदायुंनी इस बात का कोई ज़िक्र नहीं करता। फिर भी वह लिखता है कि सूफी विचारों वाले दरवेश शालें ओढ़ते थे और इनके ओढ़ने के साथ सही अर्थों में परहेज़ का प्रमाण मिलता था।

इस वाद-विवाद के साथ इस प्रश्न को विशेषता प्राप्त होती है कि अगर शालबाफी पहले से ही कश्मीर में मौजूद थी तो फिर यह दूसरों की दृष्टि से ओझल क्यों रही और यह बडशाह के समय में ही क्यों प्रत्यक्ष रूप में सामने आई। इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए आवश्यक है कि हम पुरातन काल के कश्मीर की आर्थिक बनावट की जानकारी प्राप्त करें।

पुरातन कश्मीर की आर्थिक व्यवस्था खेती बाड़ी पर आधारित थी। कश्मीर छोटे-बड़े ग्रामों में बंटा हुआ था, जो आत्म-निर्भर थे। हर गांव एक आर्थिक इकाई था, जिसमें गांव के लोग संयुक्त रूप में खेती-बाड़ी करते थे। खेती-बाड़ी के इलावा गांव के लोग हर वह करते थे जो गांव के जीवन को स्थिर रखने और अच्छा बनाने के लिए आवश्यक होते थे। इन कार्यों में नालियां खोदना, सड़कें बनाना और कपड़ा बुनना आदि शामिल था।

कश्मीर की इस आर्थिक व्यवस्था ने, जिसमें कश्मीरी समाज आत्म-निर्भर और छोटे-बड़े ग्रामों पर आधारित था। जिसमें गांव के लोग खेती-बाड़ी के साथ साथ हाथ के कार्य आदि भी पूरे करते थे। कश्मीर में काम की सामाजिक बांट के आधारों ने व्यापार का विकास नहीं होने दिया। इस सामाजिक और आर्थिक तौर तरीके का यह परिणाम हुआ कि दूसरे कार्यों की तरह शालबाफी का काम भी गांव वालों के हाथों में ही रहा। वह इसमें प्रगति न कर सके, क्योंकि वह खेती-बाड़ी और दूसरे कार्यों में भी व्यस्त रहे।

खैर, हारवन की सभ्यता के अस्तित्व में आने पर शालबाफी को कढ़ाई का पूरा-पूरा अवसर मिला। क्योंकि अब हाथ के काम खेती-बाड़ी से अलग हो चुके थे और अब यह कार्य बाज़ार की ज़रूरतों को भी पूरा करते थे। यह परिवर्तन निश्चय ही सही दिशा की ओर था जो कश्मीर की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह बदलने में कारगर साबित हुआ और इसके साथ हस्त-शिल्प के औज़ारों एवं सामग्री में काफी उन्नति हुई।

यह नया माहौल लगभग आठवीं शताब्दी तक कश्मीरियों को बनाता-संवारता रहा और उनकी कई प्रकार से सहायता करता रहा। फिर भी यह इस समय के बाद और उन्नत न हो सका। इसका कारण यह था कि आठवीं सदी के बाद कश्मीर के राजनीतिक हालात स्थिर न रहे थे। राजकीय असहमति

के कारण खाना जंगी और अफरा-तफ़री को अधिक भड़कावा मिला। इसी कारण इस समय में और कार्यों की तरह शालबाफी का विकास न हो सका और इसको घाटा ही हुआ।

हालात और भी खराब हो गए जब डुलचू मंगोल ने कश्मीर पर हमला किया। इस हमले से सारे कश्मीर में तबाही मच गयी। आम जनता के साथ ही कारीगर भी मारे गये। जो बच भी गए, उनके पास दो वक्त की रोटी भी न रही।

1320 ई० के बाद हालात ने मोड़ लिया, जब यहां इस्लाम आया। सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए शासकों ने योग्य प्रबन्ध किए। हस्त-शिल्प को फिर उत्साह मिला। शालबाफी का पुनर्निर्माण किया गया। ज़ैन-उल-आबदीन ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिनके कारण यह मर चुकी कला फिर से जी उठी। उसने कारीगरों को सम्मान दिया। खड्डियों और दूसरे औज़ारों को बढ़िया बनाने के पूरे प्रबन्ध किए।

मुग़ल बादशाहों ने शालबाफी का और विकास किया। कश्मीरी शाल को दूर-दूर तक पहुंचाने के लिए उन्होंने आधुनिक तरीके से मण्डियों का प्रबन्ध किया।

अफ़गान राज के समय शालबाफी का और विकास हुआ। इस समय शाल यूरोप में पहुंच गयी और इसके प्रयोग का काफी विकास हुआ।

सिक्ख राज के शासकों ने भी शालबाफी के विकास में रुचि दिखायी। लेकिन वह खड्डियों की गिनती बढ़ाने में सफल न हो सके, क्योंकि अंग्रेज़ों ने पहले ही पशमीने की ऊन पर एक प्रकार का एकाधिकार कर लिया था। वह गुलाब सिंह ओर ज़ोरावर सिंह की मदद से पशमीने की ऊन लद्दाख से नूरपुर, शिमला और पंजाब आदि स्थानों तक पहुंचाने में सफल हो चुके थे। इंग्लिस्तान और फ्रांस के व्यापारी अब पशमीने की ऊन सीधे लद्दाख से ही मंगवाते थे। इसके साथ शालबाफी को भारी धक्का पहुंचा।

डोगरों के समय में शालबाफी और भी पीछे हो गयी। इस समय कश्मीरी शाल की जगह यूरोप से मशीन के साथ तैयार हुई शाल अधिक प्रचलित हो गयी। मशीनी शाल सस्ती होने की वजह से यूरोप के लोगों ने कश्मीरी शाल की जगह प्रयोग में लानी आरम्भ की थी।

1876 ई० के बाद (जब फ्रांस और जर्मन में जंग हुई) कश्मीर में शाल-बाफी उद्योग खत्म हो गया तो शालबाफों और जुलाहों ने शालें बुननी छोड़ दीं क्योंकि यूरोप में शालों के खरीददार नहीं रहे थे। हिन्दुस्तान के राजा, महाराजा भी अब शाल लेने को तैयार नहीं थे। □

अनु० बलजीत सिंह रैना

कश्मीर में कालीन बाफी और नमदा साज़ी

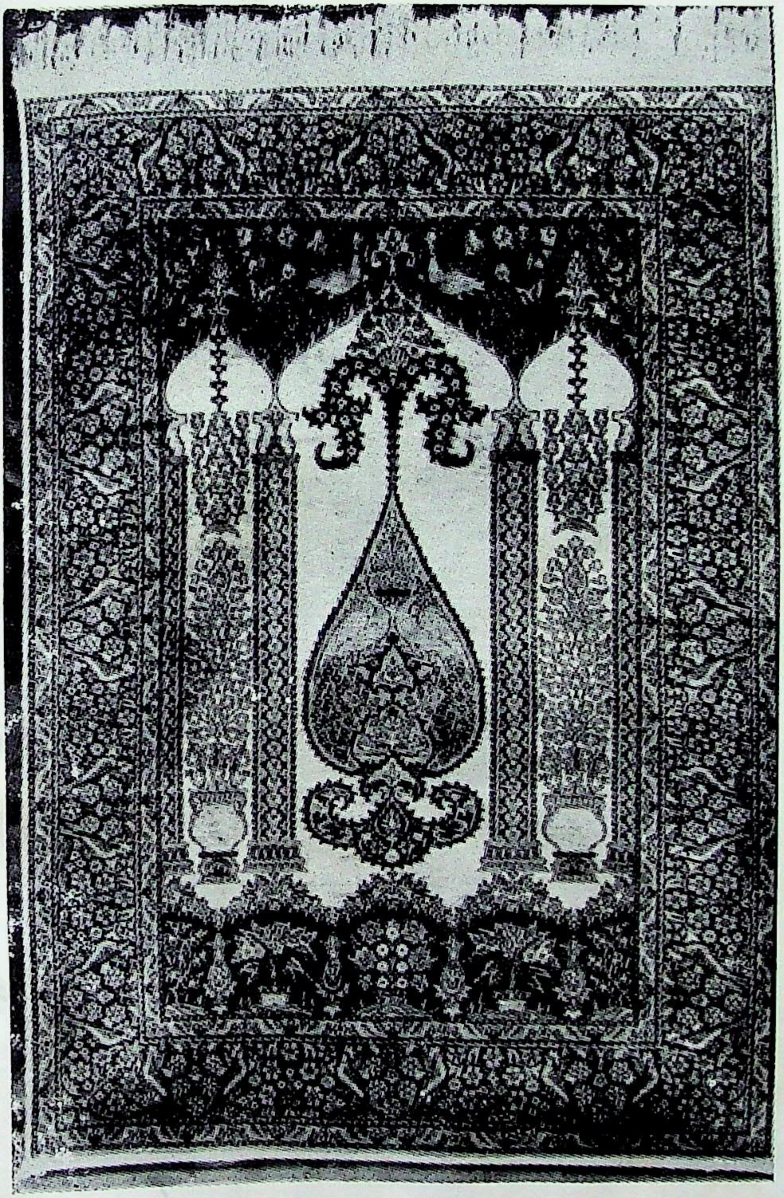
□ बशर बशीर

कश्मीरी हस्त-शिल्पों में कालीन बाफी सर्वोपरि है। इस से प्राचीन काल से ही कश्मीर के अर्थ पर एक विशेष प्रभाव रहा है। इस समय भी सीधे या गौण रूप से लाखों कश्मीरी इस शिल्प से सम्बद्ध हैं। 'टाइमज़ आफ इन्डिया' 25 सितम्बर 1979 के अंक में कश्मीरी शालबाफों की एसोसिएशन के प्रधान के अनुसार घाटी में कालीन बुनने वालों की संख्या दस हज़ार बताई गई है। कुछ लोगों का कहना है कि इस समय कालीन-बुनकरों की संख्या तीस हज़ार थी। हेंडी क्राफ्ट्स विभाग के रेकार्ड 1978-1979 के वर्ष में 12·10 करोड़ रुपये मूल्य के कालीन देश से बाहर भेजे गए।

कालीन तथा नमदे, दोनों ही मूलतः सजावट की वस्तुएं हैं, इसी लिए यह कलाकारी के नमूने भी हैं। पूर्व में इस शिल्प ने वैसा ही कला-महत्व प्राप्त किया है जैसा पाश्चात्य देशों में चित्रकारी ने। इस से पूर्व कि हम कालीन बाफी और नमदा साज़ी पर बात करें उचित यह होगा कि इस शिल्प के सम्बन्ध से विश्व-परिप्रेक्ष्य में कुछ बातें की जाएं।

यद्यपि कालीनों के बहुत से डिज़ाइन दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु प्रायः कालीन और नमदे के दो भाग होते हैं। पहला भाग हाशिया और दूसरा अन्दरुनी हिस्सा। हाशिया अन्दर वाले भाग का फ्रेम होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी तक कालीन और नमदों के लिए वही रंग प्रयुक्त होते थे जो सब्ज़ियों तथा कीड़े-मकोड़ों से प्राप्त किए जाते थे। कुछ रंग इन ही मौलिक रंगों को मिला कर तैयार किये जाते थे। किन्तु जब यूरोप में रंगसाज़ी के भिन्न-भिन्न तरीके उभरे तो 1860 के पश्चात् पूर्व में इन रंगों का प्रयोग कालीनों के ऊन के लिए आरम्भ हुआ, इस प्रकार गहरे तेज़ रंग काम में लाए गए।



कश्मीरी कालीन का एक अनुपम नमूना

नमदों और कालीनों का खाम-माल ऊन है। कालीनों में ताना सूत का भी होता है किन्तु नमदों में पूर्ण रूप से ऊन का ही प्रयोग होता है कुछ कालीनों में रेशम का ताना भी प्रयुक्त होता है। सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दी में, ईरान में पूर्ण रूप से रेशम के ही कालीन बुने जाते थे। अब कश्मीर में भी रेशम के कालीन बुने जाते हैं, किन्तु इन में प्रायः ताना सूत का ही होता है। मिसरी कालीनों में लिनन का भी प्रयोग होता था। यह बात अलग है कि कई कीमती कालीनों में सोने और चांदी के तार का भी प्रयोग हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में, मशीनी कालीनों में पटसन का भी प्रयोग हुआ।

कालीन तथा नमदों के छः बड़े ग्रुप हैं। तुर्की, काकाई, ईरानी, मध्य-एशियाई, हिन्दुस्तानी तथा चीनी। इन बड़े ग्रुपों में कुछ छोटी-छोटी किस्में भी हैं। कालीनों का चलन यद्यपि बहुत प्राचीन है परन्तु कुछ ऐतिहासिक अभिलेखों के अनुसार छठी शताब्दी ई० में 'सालेरस' के समय से कालीन-बाफी का पता चलता है। कुछ काल पूर्व अर्थात् 1949 ई० में एक रूसी पुरातत्ववेत्ता 'रोडंकी' ने मंगोलिया की सीमाओं के समीप साइबेरिया के पर्वतों में 'पज़रीक' में कालीन के कुछ टुकड़ों को खोज निकाला। इन के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जाता है कि यह टुकड़े दो हज़ार चार सौ वर्ष पूर्व के होंगे। बर्फ में दबे रहने के कारण यह टुकड़े सुरक्षित रह पाए हैं। ऐसा होने पर भी यह बात स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ई० में कुछ अति उत्तम कालीन बनाये गए। इन कालीनों में सासानी शहनशाह खुसरो के समय का एक बड़ा कालीन सम्मिलित है जिस में सोना, चांदी और मूल्यवान पत्थरों का प्रयोग हुआ है। इस कालीन पर एक ऐसे उपवन का चित्र उभारा गया है जो बादशाह को शीतकाल में भी वसन्त का आनन्द दे सकता था।

ईरानी कालीन भीतरी चित्रकारी, ढंग और डिज़ाइन के कारण प्रसिद्ध हैं। मद्य-शाला, और मद्य-शाला के विविध रंग रूप सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दी के ईरानी कालीनों की कशीदा-कारी में उभारे गए हैं। ऐसे नमूनों का चलन मूलतः छठी शताब्दी ई० पूर्व चात्र-युग के शासन काल में चीन में आरम्भ हुआ। यह चलन हान खानदान के शासन काल (220 ई० पूर्व से 220 ई० पश्चात्) में पूर्ण उन्नति को पहुंचा। बारहवीं शताब्दी में इन का प्रयोग ईरानी बर्तनों और भवन निर्माण-कला में हुआ। सम्भवतः यह चीनी प्रभाव से हो हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इस प्रकार की कशीदाकारी में और प्रगति हुई। शाह अब्बास के समय में इस कला की ओर अधिक ध्यान दिया गया। चुनांचे तुर्की कालीन की बनावट काफी हद तक ईरानी कशीदाकारी से भी प्रभावित लगती है। किन्तु रंगों की सादगी में तुर्की नमदे और कालीन, विशेषकर उसाक और पश्चिमी-अन्तोलिया के काफी प्रसिद्ध और मनमोहक हैं। महाद्वीप,

खासकर हिन्दुस्तान में जो चित्र नमदों और कालीनों पर उभारे गए हैं, उनमें चन्द्रमा और सूर्य के विभिन्न रूप भी बताये जाते हैं।

प्राकृतिक दृश्य विशेषकर उपवन और वसन्त, सरु, फलदार वृक्ष, पुष्प-वाटिका आदि हर जगह ऐसी सजावट की वस्तुओं में दृष्टिगोचर होते हैं। बेंत के वृक्षों और जास्मिन-फूलों के नक्श शाह अब्बास के युग के नमदों और कालीनों पर प्रचुर मात्रा में दिखाई देते हैं। यहां पर यह कहना उचित होगा कि गुलाब तथा सुर्ख-गुलाब उन्नीसवीं शताब्दी तक कालीनों तथा नमदों की चित्रकारी में अधिक तौर पर प्रयुक्त नहीं होते थे। यह इसलिए कहना पड़ा कि प्राकृतिक दृश्यों में इस फूल का काफी महत्व है। यह सोलहवीं शताब्दी ही थी जिस में इस फूल के रूप यूरोप में नमदों और कालीनों पर उभारे गए और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इस प्रकार की चित्रकारी का प्रभाव ईरानी शिल्प पर भी पूर्ण रूप से पड़ा। बागों और शिकार सम्बन्धी अनेक रंग रूप के चित्र भी नमदों और कालीनों पर नज़र आते हैं। ऐसे चित्रों में एक ओर बुलबुल, मोर, सिंह, रीछ, बारहसिंगा, हिरन और मछलियां नज़र आती हैं और दूसरी ओर शिकारी तथा तीरकमान। इसी प्रकार संगीतज्ञ और प्याले लेकर रंगीन मिज़ाज मनुष्य भी इन चित्रों में उभारे गए हैं। साधारणतयः ऐसे चित्र लाक्षणिक अर्थ और रूप धार लेते हैं और इस तरह कालीनों और नमदों का कलात्मक महत्व मनवाते हैं। चुनांचे सब से श्रेष्ठ कालीन का नमूना 'अर्दाबील' (1539-40) माना जाता है, जो इस समय विक्टोरिया एंड एलबर्ट म्यूज़ियम में उपलब्ध है। इस में जो चार कमल और इनके आसपास जल-ताल और इसी प्रकार हाशिये और गुलाबी रूप हैं, वह कलाविदों की दृष्टि में सूर्य तथा वर्षा का संकेत हैं। इस कालीन में ऊन तथा रेशम का प्रयोग हुआ है। चौंतीस फुट लम्बे तथा साढ़े सतरह फुट चौड़े इस कालीन के एक इंच में तीन हज़ार आठ सौ फेरे भरे हुए हैं। कुल फेरों की संख्या तीन करोड़ पच्चीस लाख अठावन हज़ार से ऊपर है। यह कालीन अर्दाबील नाम की मस्जिद के लिए मकसूदी काशानी ने बनाया था। अर्दाबील मस्जिद ईरान के आज़र बायजान में है। यह कालीन विक्टोरिया ऐंड एल्बर्ट म्यूज़ियम के लिए दो हज़ार पौंड में खरीदा गया है। विश्व के कुछ प्रसिद्ध कालीनों में निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं—

ईरान का वह कालीन, जिसका आधा भाग पोलैंड के क्राकाव गिरजे में और दूसरा भाग मसीदस आर्टस डेकोरेटिफ्स में है। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी का 'अनाहत' कालीन जो अब न्यूयार्क के 'मेट्रो पॉलिटन म्यूज़ियम' में है। यह कालीन अपने पुराने मालिक के नाम से प्रसिद्ध है जो 'अन्हाल्त' का शहज़ादा था।

जैसे पहले कहा गया कि नमदे और कालीन सजावट की वस्तुऐं हैं। इसी कारण यह अधिकतर मस्जिदों तथा शाही-महलों के लिए बनाये जाते थे।

काशान में शाही महलों के लिए बहुत ही उत्तम कालीन बुने गए हैं। 1872 ई० में पेरिस में कालीनों तथा नमदों की एक प्रदर्शनी हुई जिस में कुल नमदे और कालीन ऐसे थे जिनमें सोने और चांदी के तारों का प्रयोग किया गया था। इन कालीनों के सम्बन्ध में कहा गया था कि यह पोलैंड में बनाये गए हैं क्योंकि अठारहवीं शताब्दी ई० में यह वहीं से फ्रांस निर्यात किये गए थे और तब तक ईरान से ऐसे कालीनों का निर्यात नहीं हुआ था। तत्पश्चात् जब ईरानी कालीनों के ऐसे नमूने हाथ आये तो माहिर इस परिणाम पर पहुंचे कि यह काशान तथा इस्फहान के कुछ अति उत्तम नमूने हैं। हरात के कालीन काफी प्रसिद्ध थे। भारत में इनकी काफी मांग थी क्योंकि यहां के शाहजादे इन्हें बहुत पसन्द करते थे। विशेष भूभागों के कालीन के डिज़ाइनों के मेल और एक दूसरे पर प्रभाव के कारण यह कहना कठिन है कि एक विशेष भूभाग के कालीन तथा नमदे हम अलग कर सकें। चुनांचे इस ओर 'गाइड टु विक्टोरिया ऐंड एल्बर्ट' म्यूज़ियम में स्पष्ट संकेत मलते हैं। स्पेन, फ्रांस, और इंग्लिस्तान भी कालीन बुनने के केन्द्र रहे हैं। पूर्वी-अमरीका में पहले सूत से कालीन बुने जाते थे। सतरह सौ ई० के आस-पास यूरोप में मशीन से कालीन बुने जाने लगे।

जिस प्रकार ईरानी कालीन भीतरी कशीदाकारी, ढंग और डिज़ाइन के कारण प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार तुर्की कालीन विशेषकर 'उसाक' और पश्चिमी अन्तोलिया के रंगों की मनमोहक सादगी और कपासी रंग तथा ऊन के कारण प्रसिद्ध हैं।

एशिया के शेष देशों की अपेक्षा भारत में कालीन तथा नमदों को शायद विशेष महत्व इस कारण नहीं दिया जाता कि यह देश के मौसमी हालात से अधिक सम्बद्ध नहीं हैं। हां यह कहना उचित है कि मुग़ल बादशाहों की सौंदर्य-रुचि के कारण इस कला का चलन सोलहवीं तथा सतरहवी शताब्दी में भारत में हुआ। शाहजहां के समय में महल के लिए शानदार कालीन बुनवाये गये जिनके लिए कश्मीर से ऊन मंगवाया गया। यद्यपि हिन्दुस्तानी कालीनों पर पूर्वी-ईरान के कालीनों का स्पष्ट प्रभाव बताया जाता है। इसके बावजूद इसकी अपनी विशेषतायें हैं। सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दी में लाहौर, आगरा, मिर्ज़ापुर, अमृतसर, मुरादाबाद, बीकानेर, फतेहपुरी, मसोली-पटनम तथा वरंगल कालीन बुनने के महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। ईरानी प्रभाव और अपनी विशेषताओं के कारण जो नमूने प्रचलित हुए उन्हें हम हिन्द ईरानी नाम भो दे सकते हैं। इसीलिए कमला चट्टोपाध्याय हिन्दुस्तानी कालीनों के सम्बन्ध में अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक में हिन्द अस्फहानी, हिन्द-फराग़ानी, हिन्द-करामानी, हिन्द-तबरेज़ी तथा हिन्द-सरोकी रूपों का जिक्र करती हैं।

कश्मीर में कालीन बाफी तथा नमदा साज़ी को सुलतान ज़ैनुलआबदीन के शासन काल में गति मिली। इस बादशाह ने 1420 ई० से 1470 ई० तक

कश्मीर पर शासन किया। कहा जाता है कि 1397 ई० में तैमूर नाम का बादशाह ईरान और तुर्की पर विजय पाकर हिन्दुस्तान की ओर आया। उस समय कश्मीर में सुलतान सिकन्दर का शासन था, जिसने अपनी ओर से उसके पास शान्ति का सन्देश ले कर एक प्रतिनिधि मण्डल भेजा। तैमूर इससे सिकन्दर से खुश हुआ और उसे भेंट भेजी, जिस से सुलतान सिकन्दर काफी प्रसन्न हुआ। तैमूर की वापसी पर स्वयं सुलतान सिकन्दर, उसका स्वागत करने चला किन्तु इससे पूर्व ही तैमूर काफी आगे निकल चुका था। सुलतान वापिस आया और उसने कश्मीर से अपने पुत्र शाही खान को तैमूर के पास समरकंद भेजा। शाही खान ही बाद में जैनुलाबदीन बडशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समरकंद में शाही खान को काफी आदर मिला और इस कारण वह 1405 ई० तक कुछ वर्ष के लिए तैमूर से आज्ञा न ले सका। इस युग में समरकंद कला और व्यापार का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। शाही खान स्वयं कला का प्रशंसक था चुनांचे 1420 ई० में जब वह स्वयं तख्त पर बैठा, उसने समरकंद के कई कारीगर कश्मीर बुलाये। इनमें ज़ीन बनाने वाले, बन्दूक बनाने वाले, संगीतज्ञ, संगतराश, जिल्दसाज़, पेपरमाशी के माहिर, कागज़ बनाने वाले और कालीन बाफ सम्मिलित थे। इस प्रकार उसके हाथों कश्मीर में कालीन का प्रचलन आरम्भ हुआ। यद्यपि बडशाह के पश्चात् बहुत से कश्मीरी इस शिल्प से सम्बद्ध रहे किन्तु शासकों की कम रुचि के कारण यह शिल्प काफी पिछड़ गया और एक समय वह भी आया जब कश्मीर में कालीन बाफी एक और फिर समाप्त हो गई।

1614 ई० में इस शिल्प को नये सिरे से गति देने का प्रयास हुआ और यह प्रशंसनीय कार्य आखून-राहनुमा नाम के एक व्यक्ति ने किया। यह वह समय है जब अहमद बेग खां कश्मीर का गवर्नर था जिसे मुग़ल सम्राट् जहांगीर ने नियुक्त किया था। इस जमाने में आखून रहनुमा हज पर गया था और वह ईरान के रास्ते से वापिस लौटा। उसने ईरान से कुछ कालीन बुनने वाले अपने साथ लिए, जिन्होंने कश्मीर में कुछ व्यक्तियों को कालीन बुनना सिखाया। मरने के पश्चात आखून रहनुमा श्रीनगर के गोजवोर मुहल्ले में दफन है। कालीन शिल्प से सम्बद्ध बहुत-से कश्मीरी बराबर आज तक उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं।

कश्मीर में कालीन बुनने की कला महाराजा रंजीत सिंह के समय में पराकाष्ठा को पहुंची। चुनांचे उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह स्वयं कभी कश्मीर न आ सका। हालांकि उसे यहां आने की भरपूर लालसा थी विशेषकर यहां के बादामों के शगूफों की छटा का आनन्द लेने की। उसके गवर्नर कर्नल मियां सिंह (1834-41 ई०) ने उसे हरे तल पर बना एक कालीन भेजा जिस में गुलाबी छिटकियां थीं, जो बादाम के शगूफों जैसे दृश्य प्रस्तुत करती थीं।

कहा जाता है कि जब महाराजा रंजीत सिंह ने लाहौर में यह कालीन देखा तो उसे काफी प्रसन्नता हुई, यहां तक कि उसने यह कालीन अपने ऊपर ओढ़ा और कुछ देर तक अपने को उसमें लुढ़काता रहा। इस कालीन के कारीगरों अर्थात् फज़ल जान जब्बार खां और कमाल जू को इनाम के तौर पर सोने की ईंटें दी गईं।

स्वत: कालीन कई प्रकार से काम देने वाली वस्तु है। यह सजावट की वस्तु होने के साथ ही बिछाई का काम देता है और गरमी देने का एक अच्छा साधन भी है। इसके अतिरिक्त यह व्यक्तिगत कल्पना और कलाकारिक योग्यता को अभिव्यक्ति देने का अच्छा साधन भी है। कालीन हमारी आर्थिक ज़िन्दगी को प्रगति देने का भरपूर साधन रहा है। किन्तु काफी समय तक हमारे कलाकार इसे आर्थिक साधन बनाने के लिए रुचि न दिखा पाए। लोगों ने कालीन बुनने के शिल्प को एक आर्थिक साधन बनाने की ओर उस समय रुचि दिखाई जब महाराजा रणवीर सिंह ने उन्हें इसके लिए विवश किया। इसका सम्भवत: यह भी कारण था कि शालों का कारोबार कश्मीरियों को अधिक लाभप्रद लगता था। हिन्दुस्तानी कालीनों की विश्व की मण्डी में ज़ोरदार मांग थी, जिसे देख कर यहां के महाराजा का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इधर जब शालों के व्यापार में कुछ मन्दी आने लगी तो लोगों ने कालीन बुनने के शिल्प को अपना लिया।

कश्मीरी कालीन की एक विशेषता है "तालीम" (कालीन बुनते समय संकेत) चुनांचे एक साधारण कालीन बाफ को भी उस समय तक उस नक्शे का ज्ञान नहीं होता जो वह कालीन पर बनाता है। कालीन बुनने को बड़े आकार के हथकरघे पर ताने के धागे सीधे ही एक दूसरे के समानान्तर होते हैं, जिनमें कालीन बाफ भिन्न-भिन्न रंगों के धागे अथवा फेरे भरता जाता है। यह फेरे वह उसी हिसाब से भरता जाता है जो तालीम पत्र पर अंकित होते हैं। मतलब यह कि 'तालीमें' रंगों और फेरों की संख्या के बारे में होती हैं और इनके लिखने का अपना अलग ढंग है। पहले कालीन बाफ डिज़ाइन (नमूना) सामने रख कर भिन्न-भिन्न रंगों के धागे कालीन में पूरते जाते थे, किन्तु महाराजा रणवीर सिंह के समय से 'तालीम' का आरम्भ हुआ। कहते हैं कि उसके शासनकाल में 1875 ई० में एडवर्ड सप्तम् शाहज़ादा वेल्ज़ को जम्मू आना था। महाराजा ने अमिर जू गंगू को आज्ञा दी कि उसके लिए अजायब घर के ढंग का एक लम्बा कालीन बुना जाए। यह थोड़े समय में सम्भव न था। क्योंकि उस समय कश्मीर में केवल तेरह कालीन बाफ मौजूद थे। इसलिए आवश्यक था कि कुछ अशिक्षित भी काम पर लगाए जाते। अबली मीर इन दिनों एक उस्ताद कालीन बाफ था। उसने ऐसी शिक्षा आविष्कृत की जिससे अशिक्षित भी काम पर लगाए गए। उन्हें नमूने का कोई ज्ञान न था वे केवल शिक्षणानुसार रंग

भरते जा रहे थे। इससे गलतियों की कम सम्भावना रही और कालीन भी समय पर तैयार हो गया। यही आगे चलकर कश्मीरी कालीन की सुन्दरता और डिज़ाइन की खूबी का कारण बना।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी कश्मीरी कालीनों और नमदों की शैली में नवीनता लाने का प्रयास किया। 1851 ई० में लन्दन में एक प्रदर्शनी हुई जिस में एक कश्मीरी रेशमी कालीन भी रखा गया था। इसमें प्रति वर्ग इंच में सात सौ फेरे भरे हुए थे। इसके पश्चात यूरोप में कश्मीरी कालीनों की ज़ोरदार मांग हुई। बर्तानवी तथा फ्रांसीसी फर्मों द्वारा इस शिल्प का चलन खूब बढ़ा। 1876 ई० में एक यूरोप मिस्टर चापमैन कालीन बनवाने और इनका निर्यात यूरोप करने कश्मीर आया। स्टेट वर्कशाप का एक अधिकारी मियां लाल दीन हकूमत की ओर से उसकी सहायता करने के लिए सरकार की ओर से नियुक्त किया गया। उसने कुछ नये नमूने बनवाये जिन की बाद में अधिक मांग न रही जिससे वह वापिस लौट गया। तत्पश्चात एक फ्रांसीसी एम० बिगेक्स वहां की एक कम्पनी 'बोन मार्शी' की ओर से यहां कालीन बनवाने आया। कम्पनी की ओर से उसके साथ एक एजेन्ट एम० एगार्ड भेजा गया जो डिज़ाइनों का जानकार था। हां उसे यह ज्ञान न था कि डिज़ाइन कैसे बनाए जाते है अतः कई प्रकार के डिज़ाइनों के कालीन बनते रहे जो अन्त में उसने पसन्द न किये। इस प्रकार मि० बिगेक्स को घाटा हुआ और उसने यह काम छोड़ दिया। उसके बाद यह कार्य डावरन नाम के एक व्यक्ति ने अपने जिम्मे लिया, जो कश्मीर से शाल निर्यात करता था। शाल शिल्प का ज्ञाता होने के कारण उसने कालीनों के ऐसे डिज़ाइन बनाये जिनकी बाहर काफी प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार उसे काफी लाभ हुआ। तत्पश्चात् मेसर्ज़ एच० मिचल एण्ड कम्पनी ने उसकी फैकटरी भी यहां स्थापित की गई। इन कम्पनियों ने विश्व की मण्डी में कश्मीरी कालीनों की मांग बढ़ायी और कैनेडा, फ्रांस, बर्तानियां आदि स्थानों पर कश्मीरी कालीन बहुत पसन्द किया गया। 1911 ई० की जनगणना के अनुसार इन दो कम्पनियों की बड़ी प्रसिद्धि हुई और इन्हें कई पारितोषिक भी दिए गए। कश्मीरी कालीनों की प्रसिद्धि विशेष तौर से हेडो एण्ड कम्पनी द्वारा हुई जिसने 1810 ई० में शिकागो के विश्व मेले में कश्मीरी कालीनों का प्रदर्शन किया। इस कम्पनी ने 1902 में अर्दीबील मस्जिद के कालीन (जिसका जिक्र पहले किया गया) की नकल तैयार की जिसे लार्ड कर्जन ने एक सौ डालर में खरीदा। इन ही कारणों से इस शिल्प ने पुनः प्रगति की और तेज़ी से इसकी अभिवृद्धि हुई।

पहले कश्मीर के कालीनों और नमदों पर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र उभारे जाते थे किन्तु ईरानी प्रभाव और यहां (कश्मीर) के कलाकारों की उड़ान द्वारा कश्मीर में भिन्न-भिन्न प्रकार के कालीन और नमदे बनाए गए। बर्जस्ता

(खिला हुआ) कश्मीरी कालीन का एक विशेष रूप है जो सुन्दरता के कारण काफी प्रसिद्ध है। मध्य एशियाई नमूनों में बुखारा डिज़ाइन के कालीन यहां बहुत पसन्द किए गए और इस ढंग के कालीन भी यहां बनाए गए। शुपयान और गुरेज़ का ऊन अच्छे स्तर का माना जाता है जिस कारण कालीन और नमदों की रुचि रखने वाले यहां के कालीन को पसन्द करते हैं। यह भी एक कारण है जिससे विश्व बाज़ार में कश्मीरी कालीनों और नमदों की अच्छी मांग है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में इनकी मांग में कमी आ गई क्योंकि मशीनी कालीनों ने यूरोप में काफी महत्व प्राप्त किया। 1947 के पश्चात् इस शिल्प की ओर विशेष ध्यान दिया गया और पहली पंचवर्षीय योजना में ही 'श्रीनगर आर्टस एम्पोरियम' स्थापित किया गया। इस शिल्प से सम्बन्धित लोगों को इस स्थापना से काफी लाभ हुआ। बिचौलियों का कन्ट्रोल समाप्त किया गया और इस प्रकार इस शिल्प से सम्बद्ध लोग लाभान्वित हुए। अब लोग इस शिल्प में काफी रुचि ले रहे हैं। 1974 ई० तक कालीन बुनने का काम अधिक तौर पर श्रीनगर तक ही सीमित था। लोग व्यक्तिगत रूप से किसी उस्ताद से यह काम सीखते थे। एक सर्वे के अनुसार कालीन बाफों की संख्या इस प्रकार थीं—

	मर्द	औरतें	कुल संख्या
श्रीनगर	2854	77	2931
श्रीनगर (तहसील)	3121	92	3132
बडगाम	186	1	187
बीरू	5	×	5
गांदरबल	8	×	8
इस्लामाबाद (अनन्तनाग)	11	6	17
बारामूला	13	×	13
कुल	3344	99	3443

1975-76 ई० में सरकार की ओर से कालीन बुनने की शिक्षा के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम तैयार किया गया जिस के द्वारा 1984 ई० तक अठतालीस हज़ार व्यक्तियों को कालीन बुनने की शिक्षा दी गई। शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को सरकार कालीन के अपने कारखाने स्थापित करने के लिए आर्थिक सहायता देती है। इसी प्रकार अब नमदे बुनने और इन पर फूल बूटे बनाने के सम्बन्ध में सरकारी स्तर पर केन्द्र स्थापित करने का प्रयास हो रहा है। कश्मीरी नमदे ऊन और उस पर किए गए काम के कारण प्रसिद्ध हैं। हिन्दुस्तान में

श्रीनगर, अमृतसर, जयपुर और जोधपुर नमदा शिल्प के केन्द्र माने जाते हैं। यद्यपि नमदा शिल्प काफी हद तक कालीन से भिन्न है किन्तु नक्शोनिगारी के काम और प्रयोग के कारण आपस में मिलते-जुलते हैं और इसी कारण एक खानदान में आते हैं। नमदे का ऊन साधारणतः एक वस्त्र या चटाई पर फैलाया जाता है। तब इस पर मांड़ लगाया जाता है ताकि ऊन के बाल एक-दूसरे से जुड़ सकें। कपड़ा या चटाई लपेट कर इसको मालीदा किया जाता है इस प्रकार जो ऊनी पट्ट तैयार होता है उस पर विभिन्न रंगों से आरी द्वारा नक्श बनाये जाते हैं।

कश्मीर में यद्यपि विभिन्न साइज़ों में नमदे और कालीन बनाये जाते हैं और नमदे गोलाई की शक्ल में भी मिलते है, किन्तु प्रायः निम्न साइज़ों के कालीन और नमदे बनते है :—

नमदे 2′ × 3′ ; 3′ × 4′ ; 4′ × 6′ ; 6′ × 9′ ; 9′ × 12′

कालीन 2′ × 3′ ; 2½′ × 4′ ; 3′ × 5′ ; 4′ × 6′ ; 6′ × 9′ ; 9′ × 12′।

हस्त शिल्प के व्यापार में जो बिचौलियापन प्राचीन काल से रहा उससे कारीगरों को काफी हानि होती थी। चुनांचे गत कुछ वर्षों से कश्मीर में ऐसी समितियां गठित की गईं जिनके द्वारा सरकार कारीगरों से सीधे तौर पर वस्तुएं खरीद जाती हैं। ऐसे पग भी उठाए जा रहे हैं जिनसे कश्मीरी हस्तकलाओं का महत्व विश्व के बाजार में दिन-ब-दिन बढ़ रहा है। इन हस्त शिल्पों में कालीन बाफी को पहला स्थान दिया जाता है, क्योंकि कश्मीरी हस्त-शिल्पों में यह सर्वोपरि है।

अनु० अर्जुन देव मजबूर



कश्मीर का स्वर्गिक फल—अम्बरी सेब